श्री विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला १४३

व्यञ्जना : सिद्धि और परंपरा

डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१४३

व्यञ्जना : सिद्धि और परंपरा

लेखक

डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

एम० ए० (हि० सं०), पी-एच० डी०

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९७२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२९
मूल्य [redacted]

© चौखम्बा विद्याभवन
चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१
फोन : ६३०७६

प्रधान कार्यालय
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन,
पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१
फोन नं० ६३१४५
CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

143

******

VYAÑJANĀ : SIDDHI AUR PARAMPARĀ

(Theory of Suggestion in Sanskrit Poetics and its Tradition)

By

DR KṚṢṆAKUMĀRA ŚARMĀ

M. A. (Hindī-Sanskrit), Ph. D.

ప్రమోద్ – నేపాల్

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

1972

© The Chowkhamba Vidyabhawan
Post Box No. 69
Chowk, Varanasi-1 (India)
1972
Phone : 63076

First Edition
1972
Price Rs. [redacted]

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Oriental Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 63145
CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निवेदन

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में आचार्य आनंदवर्धन द्वारा प्रतिपादित व्यंग्यार्थ की धारणा और व्यञ्जनावृत्ति का निर्भ्रान्त स्थापन महान् उपलब्धि है। काव्य और अर्थ के संबंध के शाश्वतत्व को सभी मनीषी स्वीकार करते हैं। व्यञ्जनावृत्ति शब्द के सभी संभावित अर्थों के आयाम उन्मीलित करती है। काव्य, जो कुछ कहता है, सीधे नहीं आवरण (under veil) व्यक्त करता है। 'सपाट बनायी' काव्य नहीं है, और वाचक तथा गुणवृत्ति की सीमा से परे के व्यंग्यार्थ का प्रकाशन व्यञ्जना ही करती है। अतः 'व्यंग्यार्थ' परक दृष्टि, किसी भी काल के काव्य के लिये 'निकष' प्रस्तुत कर सकती है।

'व्यञ्जना', वृत्ति के रूप में सर्वप्रथम आचार्य आनंदवर्धन द्वारा ही स्थापित की गई है। इससे पूर्व अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्ति ही स्वीकृत थीं। आचार्य आनंदवर्धन ने व्यंग्य-व्यञ्जक भाव की प्रेरणा वैयाकरणों से ग्रहण की थी। वैयाकरण, श्रूयमाण वर्णों के प्रसंग, में नाद और स्फोट में व्यञ्जक व्यंग्य भाव मानते हैं। नाद, व्यञ्जक है और स्फोट व्यंग्य। नाद के कारणभूत वर्णों में वैयाकरणों ने ध्वनि का व्यपदेश किया है, इसी प्रकार स्फोट में होने वाली अर्थप्रतीत को भी 'ध्वनि' या 'व्यक्ति' कहा है। इसी का अनुसरण करते हुए आचार्य आनंदवर्धन ने भी व्यञ्जक, व्यंग्य और व्यञ्जना को 'ध्वनि' कहा है। इस प्रकार वैयाकरणों से आधार ग्रहण कर आचार्य आनंदवर्धन ने काव्य के सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त की अवतारणा की। अवश्य ही वाच्य व्यतिरिक्त अन्य अर्थ की प्रतीति की ओर, वामन ने भी संकेत किया था परन्तु तर्कसम्मत आधार पर निर्विवाद स्वरूप निरूपण आचार्य आनन्दवर्धन ने ही किया।

'ध्वनिसिद्धान्त' का विरोध आचार्य आनन्दवर्धन के समय में भी हुआ और उनके बाद भी। अपने समय में होने वाले विरोधों का प्रत्याख्यान, आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ में किया ही है। परवर्ती विरोधियों में धनंजय-धनिक, भट्टनायक, कुन्तक और महिम भट्ट उल्लेखनीय हैं। धनंजय धनिक ने तात्पर्यवृत्ति से ही सभी अर्थ प्रतीत्य माने। भट्टनायक ने,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

भावकत्व और भोजकत्व की स्थापना कर रस की व्यंग्यता का निराकरण कर प्रकारांतर से व्यञ्जना का निषेध किया। कुन्तक ने व्यञ्जना वृत्ति तो मानी पर, ध्वनि का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में किया। महिमभट्ट ने व्यंग्यार्थ को अनुमेयार्थ कहा।

आचार्य मम्मट व्यञ्जना के प्रबल पक्षधर थे। 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में, व्यञ्जना विरोधी सभी मतों का वाचन, खण्डन तथा व्यञ्जना का अनिवार्य स्थापन किया गया है।

मम्मटोत्तर आचार्यों में कविराज विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार किया है। कविराज ने तो आचार्य मम्मट की तर्कपद्धति का अनुसरण करते हुए ही व्यञ्जना का पुनः प्रतिपादन किया है।

प्रस्तुत निबंध में इसी दृष्टि से चार चरण हैं—

(१) व्यञ्जना-सिद्धि (आनन्दवर्धन द्वारा)
(२) व्यञ्जना-प्रत्याख्यान (विरोधी आचार्यों के मत)
(३) व्यञ्जना-प्रतिष्ठा (मम्मट और मम्मटोत्तर आचार्य)
(४) स्वरूप और भेद

यह प्रयत्न किया गया है कि जो कुछ कहा जाय वह मूल ग्रन्थों के ही आधार पर हो। हिन्दी में व्यञ्जनावृत्ति पर इस प्रकार की कोई पुस्तक नहीं है। सभी मूल अंश पाद टिप्पणी में दे दिये गये हैं।

उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी महोदय ने और विभाग के प्रवक्ता श्रीमान मूलचन्द्र जी महोदय ने इसे आद्यन्त पढ़ा है, आशीर्वाद दिया है, वे गुरु हैं अतः आभार ही प्रकट कर सकता हूँ।

आदरणीय गुरुजन श्रीयुत विष्णुराम जी नागर और डॉ० श्रीयुत गयाचरण जी त्रिपाठी का भी कृतज्ञ ही हूँ, इन महानुभावों की कृपा ने सदा प्रेरित किया।

संस्कृत साहित्य का प्रचार-प्रसार करने वाले चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के व्यवस्थापक महोदय को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने लगन के साथ इसे शीघ्र प्रकाशित किया है।

उदयपुर
वि० सं० २०२९ —कृष्णकुमार शर्मा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सम्मतियाँ

(१)

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी

अध्यक्ष : संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

उदयपुर विश्वविद्यालय के मेधावी एवं प्रख्यात अध्यापक डॉ० कृष्णकुमार शर्मा का ध्वनिसिद्धान्त से संबंधित ग्रन्थ 'व्यञ्जना : सिद्धि और परम्परा' अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मल्लिनाथ की भाँति डॉ० शर्मा ने अमूल और अनपेक्षित को न छूकर प्रतिपाद्य विषय का नवीन और मौलिक ढंग से सूत्रशैली में प्रतिपादन किया है। आनन्दवर्धन द्वारा व्यञ्जना की स्थापना, विरोधी आचार्यों द्वारा उसकी खण्डना और वाग्देवतावतार मम्मट आदि आचार्यों द्वारा उसकी अपराजित प्रतिष्ठा की संक्षिप्त, सुन्दर एवं प्रामाणिक विवेचना के लिये डॉ० शर्मा का यह ग्रन्थ संस्कृत एवं हिन्दी के विद्यार्थियों को सदा आलोक प्रदान करेगा।

संस्कृत एवं हिन्दी के आलोचनाशास्त्र की श्रीवृद्धि के लिये डॉ० शर्मा निरन्तर लगे रहें, यह मेरी हार्दिक मंगलकामना है।

(२)

मूलचन्द पाठक

संस्कृत विभाग : उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

डॉ० कृष्णकुमार शर्मा की व्यञ्जना विषयक कृति का आद्यन्त अवलोकन कर बहुत प्रसन्नता हुई। डॉ० शर्मा पिछले दो-तीन वर्षों से अलंकारशास्त्र के अध्ययन में मनोयोग पूर्वक जुटे हुए थे। प्रस्तुत कृति उसी अध्ययन और अध्यवसाय का सुफल है। इसमें आपने ध्वनिकार से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक प्रमुख आलंकारिकों की व्यञ्जनावृत्ति व ध्वनि विषयक धारणाओं और मान्यताओं का, मूल ग्रंथों के आधार पर, उन्हीं की विवेचना और तर्कपद्धति का अनुसरण करते हुए, अपनी भाषा में अनुवाद और व्याख्यान किया है। मूल ग्रन्थकारों के मतों और सिद्धान्तों को सर्वत्र अविकल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। मुझे विश्वास है कि भारतीय काव्यशास्त्र के उन प्रौढ अध्येताओं के लिए जो मूल संस्कृत ग्रन्थों को पढ़ने में असमर्थ हैं यह कृति अत्यन्त उपादेय और सहायक सिद्ध होगी।

मैं इस ग्रन्थ की उत्कृष्ट उपलब्धि के लिए डॉ० शर्मा को हार्दिक बधाइयां देता हूँ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आधारग्रंथ

१. ध्वन्यालोक	:	सं० आचार्य विश्वेश्वर
२. ध्वन्यालोक	:	सं० श्री महादेव शास्त्री
३. ध्वन्यालोक	:	सं० डॉ० रामसागर त्रिपाठी
४. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय	:	डॉ० सत्यकाम वर्मा
५. हिन्दी दशरूपक	:	सं० डॉ० भोलाशंकर व्यास
६. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित	:	सं० श्री राधेश्याम मिश्र
७. हिन्द व्यक्तिविवेक	:	सं० डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी
८. महिम भट्ट	:	डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी
९. हिन्दी काव्यप्रकाश	:	डॉ० आचार्य विश्वेश्वर
१०. पोएटिक लाइट	:	डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी
११ साहित्यदर्पण	:	लक्ष्मीटीकाकार श्री कृष्णमोहन शास्त्री
१२. हिन्दी रसगंगाधर	:	सं० श्री बदरीनाथ झा और श्री मदनमोहन झा
१३. हिन्दी तर्कभाषा	:	सं० आचार्य विश्वेश्वर
१४. स्वतंत्र कलाशास्त्र	:	डॉ० कान्तिचंद्र पांडेय
१५. संस्कृत पोएटिक	:	श्री कृष्ण चैतन्य
१६. दी पोएटिक माइन्ड	:	श्री स्कॉट
१७. प्रतिभादर्शन	:	श्री हरिशंकर जोशी
१८. भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा	:	सं० डॉ० नगेन्द्र
१९. काव्य शास्त्र	:	सं० डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विषय-सूची

अध्याय १

प्रेरणा और सिद्धि : प्रेरणा, नाद, स्फोट, व्यंग्य-व्यंजकभाव, ध्वनि, व्यक्ति, सिद्धि, वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के विषयगत भेद का प्रतिपादन, रसादि की व्यंग्यता, अलंकारादि में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध, ध्वनि की अनाख्ययता का निवारण, वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में घट-प्रदीपन्याय, व्यंग्यार्थ के वाच्यत्व के निषेध का एक और तर्क, आश्रय भेद से व्यंजकत्व की प्रामाणिकता, लक्षकत्व और व्यंजकत्वभेद प्रकरण, स्वरूप भेद, विषयभेद। १–५२

अध्याय २

धनंजय-धनिक द्वारा व्यंजना का तात्पर्य शक्ति में पर्यवसान, पूर्वपक्षका वाचक, धनंजय-धनिक का मत स्थापन, भट्टनायक, आचार्य कुन्तक, राजानक महिमभट्ट, शब्द की अनेक शक्ति-विषयक मान्यता का खण्डन। ५३–८५

अध्याय ३

आचार्य मम्मट, कविराज विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ ८६–१४२

अध्याय ४

व्यंजना का स्वरूप और भेदनिरूपण : आर्थी व्यंजना, कविराज विश्वनाथ द्वारा व्यंजना स्वरूप तथा भेदनिरूपण, ध्वनि-सिद्धान्त। १४३–१६८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्यञ्जनासिद्धि और परम्परा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अध्याय १

प्रेरणा और सिद्धि

१. १. **प्रेरणा**—आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रकाशित ध्वनिसिद्धान्त का आधार व्यञ्जनाव्यापार की धारणा है। वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को आचार्य ने व्यंग्यार्थ कहा है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति 'व्यञ्जना' द्वारा मानी है। प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व की ओर आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व भी संकेत किये जाते रहे थे, परन्तु इसकी निर्भ्रान्ति स्थापना आनन्दवर्धन के ही द्वारा हुई। आचार्य आनन्दवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' इस विषय का सर्वप्रथम ग्रन्थरत्न है। 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ का उद्देश्य व्यञ्जना और प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि है और इसमें रचयिता पूर्णरूप से सफल भी हुए हैं। आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व शब्द-शक्ति के प्रसंग में अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या की चर्चा होती रही थी। शब्द की 'व्यञ्जना' नामक नूतन शक्ति और व्यञ्जकत्व व्यापार आचार्य आनन्दवर्धन की उद्भावना है।

'ध्वनिसिद्धान्त' की कल्पना भले ही कितनी भी प्राचीन कही जाय पर उसका सर्वप्रथम सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ में उपलब्ध हुआ है। कतिपय विद्वानों में 'ध्वन्यालोक' के रचयिता को लेकर मतभेद है। कुछ विद्वान् कारिकाओं की रचना अन्य व्यक्ति द्वारा और वृत्ति आनन्दवर्धन कृत मानते हैं। यह मत 'अभिनवगुप्त' की लोचन व्याख्या से प्राप्त संकेतों के आधार पर डॉ० बुह्लर, प्रो० जेकोबी, प्रो० कीथ, डॉ० दे और डॉ० काणे आदि का है। इस मत के विपरीत डॉ० शंकरन् ने कारिका और वृत्ति दोनों का ही रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन को सिद्ध किया है। 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ का अन्तिम श्लोक स्पष्ट रूप से आचार्य आनन्दवर्धन को संपूर्ण ग्रंथ का रचयिता घोषित करता है—

सत् काव्यतत्त्वविषयं स्फुरितप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धनं इति प्रथिताभिधानः॥[1]

डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार, 'इस प्रकार की स्पष्टोक्तियों के रहते हुए भी यदि कारिकाकार का पृथक् अस्तित्व माना जाय तो यह दूसरे शब्दों में आनन्दवर्धन पर साहित्यिक चौर्य का अभियोग लगाना होगा, जो सर्वथा अनुचित है।' निष्कर्षतः आनन्दवर्धन ही कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता हैं। ११वीं शती के आचार्य हेमचन्द्र, जयरथ, विश्वनाथ आदि भी इसी मत का प्रतिपादन कर चुके हैं।

---

१. ध्वन्यालोक आ० वि० पृ० ३६४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'ध्वन्यालोक' में आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट लिखा है कि इस सिद्धान्त की भूमिका विद्वानों द्वारा पूर्व ही कही जा चुकी है—यह ऐसे ही स्थापित कर दिया गया सिद्धान्त नहीं है। इसीलिये 'ध्वनि' की परिभाषा में आचार्य ने 'सूरभिः कथित इति' का प्रयोग किया है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[1]

इस श्लोक में प्रयुक्त 'सूरिभिः' का अर्थ वृत्ति में वैयाकरण किया गया है—'सूरभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः'[2] और वैयाकरण—श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' का व्यपदेश करते हैं—

'ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति'[3]

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन की व्यञ्जना और 'ध्वनि' का प्रेरणास्रोत वैयाकरणों का 'श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि' का व्यवहार है। अतः व्यञ्जना सम्बन्धी धारणा और व्यंजकत्व व्यापार द्वारा प्रतीत व्यंग्यार्थ की प्रेरणा को भली भांति समझने के लिये वैयाकरणों की श्रूयमाण वर्ण विषयक धारणा को प्रथमतः समझना अपेक्षित है।

भारत में वैयाकरणों की दीर्घ परम्परा रही है। गार्ग्य काश्यप, स्फोटायन, औदुम्बरायण, शाकटायन आदि प्रसिद्ध वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है। पाणिनि ने स्वयं इस परम्परा को स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है। पाणिनि के उपरान्त पतंजलि ही प्रथम वैयाकरण थे जिन्होंने अपने से पूर्व के 'शिक्षा', 'निरुक्त' व्याकरण और दर्शन के युक्तिक्रम का सम्यक् समन्वय कर उसे एक स्वतन्त्र विज्ञान के स्वरूप में प्रस्तुत किया। जिस 'आधार' (श्रूयमाण वर्णेषु······आदि) का संकेत आचार्य आनन्दवर्धन ने किया है—उसका सूत्र-स्थापन स्फोटायन ने किया था, परन्तु वह विस्तार न पा सका। सर्वप्रथम, 'स्फोट'[4] शब्द का प्रयोग कर पतंजलि ने उस पूर्व परम्परा का निर्देश किया है। परन्तु इस सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' ग्रंथ में उपलब्ध होती है।

'श्रूयमाणवर्णों' प्रक्रिया के दो अंश हैं—एक श्रूयमाण वर्ण अर्थात् 'वाक्' की

---

१. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. ३७
२. ,, ,, पृ. ५३
३. ,, ,, ,, ,,
४. 'प्रतिमादर्श' प्रदीप पृ. ३१०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उत्पत्ति और द्वितीय इस वाक् का श्रोता द्वारा ग्रहण। वाक् की उत्पत्ति के विषय में भर्तृहरि से पूर्व की परम्परा, चार स्थितियां मानती रही है—१. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा और ४. वैखरी। 'परा' स्थिति वक्ता की इच्छा से सम्बन्धित है, ज्यों ही वक्ता के मन में अभिव्यक्ति की इच्छा (वक्तुरिच्छा) उत्पन्न होती है, शब्द परमाणु—आकाश में बादलों के समान (अभ्राणीव)—उमड़ने लगते हैं। इन शब्द परमाणुओं में चयन प्रक्रिया इस स्थिति में नहीं हो पाती, इच्छा का ही प्राधान्य रहता है।

'परा' स्थिति में उत्पन्न इच्छा का विश्लेषण 'पश्यन्ती' अवस्था में होकर उसका शब्दरूप निश्चित हो जाता है, अतः इसे चिन्तन अथवा मनन की अवस्था भी कह सकते हैं। विश्लेषण का कार्य तेजस् तत्त्व द्वारा होता है—

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः[1] (वा० १-११३)

इसलिये 'पश्यन्ती' का कार्य 'विश्लेषणपूर्ण विनिश्चय' कहा गया।

'मध्यमा' अवस्था में प्राण और वायु का योग कहा गया है। इसे प्रयत्न की अवस्था कहते हैं। उच्चारणावयव और प्रश्वास की समस्त प्रक्रिया इसी अवस्था में सम्पन्न होती है। 'पश्यन्ती' अवस्था में विनिश्चित शब्द के अनुसार ही उच्चारणावयव और प्रश्वास में अवरोधादि प्रयत्न होते हैं।

इस प्रकार जो निश्चित स्वरूप वाली वाक् व्यक्त होती है, वह वैखरी कहलाती है। यह 'वैखरी' ही विश्व के पारस्परिक व्यवहार का माध्यम है।

उपर्युक्त चार अवस्थाओं में से भर्तृहरि, 'पश्यन्ती', 'मध्यमा', और 'वैखरी' का ही परिगणन करते हैं, व्याकरण का क्षेत्र अधिक से अधिक 'पश्यन्ती' अवस्था तक ही है। क्योंकि अर्थभावनासहित शब्द 'बुद्धिस्थ' रहता है और प्रकृति-प्रत्यय विश्लेषण प्रक्रिया भी पश्यन्ती अवस्था में ही होती है—

'तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्'[2] (वा. प. १.४६)

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः[3] (वा. प. १.४७)

'परा' में व्याकरण की गति नहीं है इसीलिये भर्तृहरि ने उसका उल्लेख नहीं किया। 'वक्तुरिच्छा' का विश्लेषण भर्तृहरि ने अवश्य किया है।

अतः वाक् की उत्पत्ति में भर्तृहरि द्वारा तीन चरण माने गये हैं—

(१) पश्यन्ती। (२) मध्यमा। (३) वैखरी।

यही 'वैखरी' वाक् श्रोता तक पहुँचती है। ग्रहण का क्रम उत्पत्ति के क्रम का

---

१. भाषातत्त्व और वा० प० डॉ० स० का० वर्मा पृ. ४७
२. ,, ,, ,, पृ. ४१
३. ,, ,, ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विलोम है। 'श्रूयमाण वर्णों' का अवसर इस 'ग्रहण' के प्रसंग में ही उत्पन्न होता है। ग्रहण की प्रक्रिया के चरण इस प्रकार हैं—नाद–स्फोट–ध्वनि (व्यक्ति)–स्वरूप। 'स्वरूप' से तात्पर्य है, श्रोता द्वारा वक्ता की इच्छा के 'स्वरूप' का समझा जाना।

१. २. **नाद**—व्यक्त वर्णध्वनियाँ नाद के रूप में ही श्रोता तक पहुँचती हैं। व्यक्त ध्वनि वायु में, तरंग रूप में प्रसरण करती है। तरंग की विशेषता व्यक्त वाक् के अनुरूप ही होती है। अर्थात् दीर्घ और ह्रस्व उच्चरित वर्ण के अनुसार तरंग की तरंग लम्बाई (wave length) भी होगी। यह तरंग कान के पर्दे से टकरा कर वर्ण का पुनरुत्पादन करेगी, यह पुनरुत्पादित वर्ण ही नाद है। इस प्रकार प्रत्येक उच्चरित वर्ग की तरंग उस वर्ण का नाद उत्पन्न करेगी—क्योंकि सभी उच्चरित वर्णों की तरंगें एक साथ नहीं पहुँचतीं, उच्चारण के क्रम से पहुँचती हैं। अतः नाद क्रमजन्मा होता है। इसी अर्थ में भर्तृहरि ने भी नाद को क्रम-जन्मा कहा है—

"नादस्य क्रमजन्मत्वात्"

परन्तु, यहीं एक प्रश्न होता है, कि उच्चरित वर्णों की तरंगें क्रमशः पहुँच कर क्रमशः ही नाद को उत्पन्न करेंगी, तब शब्द की पूर्णता का ज्ञान कैसे होगा। क्योंकि दूसरे वर्ण की तरंग पहुँचने तक प्रथम वर्ण की तरंग तिरोहित होने लगेगी। इसी समस्या का समाधान 'स्फोट सिद्धान्त' है!

१. ३. **स्फोट**—शब्द की पूर्णता का ज्ञान 'स्फोट' में होता है। उदाहरण के लिये 'गौः' शब्द लें। इसमें तीन वर्ण हैं ग्, औ, और ः (विसर्ग), वक्ता जब 'गौः' का उच्चारण करेगा, तब ये तीन वर्ण क्रमशः तीन ध्वनि तरंगों के रूप में श्रोता के कान के पर्दे से टकरा कर क्रमशः नाद उत्पन्न करेंगे। परन्तु 'गौः' की प्रतीति तो तीनों वर्णों के एकान्वित रूप में ही हो सकती है, पृथक्-पृथक् में नहीं। एक अथवा दो वर्णों में ही पूर्ण 'गौः' की प्रतीति मानने पर, शेष वर्ण व्यर्थ कहे जाएँगे। लेकिन तीनों वर्णों का एकान्वित रूप भी संभव नहीं है, क्योंकि कोई भी ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहरती। जब तक 'औ' ध्वनि पहुंचेगी 'ग' ध्वनि तिरोहित हो जायेगी।

स्फोट के धारणानुसार 'गौः' का अर्थबोध 'स्फोट' द्वारा होता है। अर्थात् 'पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कार ('ग्' का संस्कार, 'औ' का संस्कार) अन्तिम वर्ण (ः विसर्ग) के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द की पूर्णता की प्रतीति के साथ ही अर्थबोध कराते हैं। यही 'पूर्णता की प्रतीति' स्फोट है। भर्तृहरि स्फोट में शब्द और अर्थ, दोनों की पूर्णता की समकालिक अनुभूति मानते हैं। वाक्य की पूर्णता की प्रतीति, वाक्यस्फोट कही गयी है। वाक्यपूर्णता के साथ-साथ वाक्यार्थ-प्रतीति भी होती है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१.४. व्यंग्य-व्यञ्जकभाव—भर्तृहरि ने नाद और स्फोट में व्यंजक-व्यंग्य भाव कहा है—

व्यंग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः[1] (वा० १·९७) नाद व्यंजक है और स्फोट व्यंग्य। नाद और स्फोट का यह संबंध नित्य और स्वाभाविक है। नाद के अभाव में स्फोट की अस्तित्व-सिद्धि ही असंभव है। स्फोट में शब्द अथवा वाक्य की 'श्रुति' पूर्ण होती है। श्रुति पूर्ण होते ही अर्थ-प्रतीति भी होती है, यह तात्कालिक उपलब्धि ही स्फोट है। इस प्रकार स्फोट में अर्थ-प्रतीति भी है, किन्तु स्फोट को व्यांग्य कहा इसलिये, स्फोट में प्रतीत होने वाले अर्थ को भी व्यंग्य कहा जा सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित व्यंग्यार्थ का आधार यही धारणा है।

'नाद' व्यंजक है यह नाद वर्णध्वनियों से उत्पन्न होता है, अतः नाद, ध्वनि-रूप ही है—ध्वनि, वर्णों का गुण है, नाद का व्यंजकत्व, कारण स्वरूप वर्णों का ही व्यंजकत्व है और वर्ण ही शब्द का निर्माण करते हैं तथा शब्द की पूर्णता के साथ ही अर्थ की प्रतीति भर्तृहरि द्वारा कही गई है इस लिये अर्थ के प्रति वर्ण-निर्मित शब्द का भी व्यञ्जकत्व सिद्ध होता है। इसी आधार पर शब्द तथा वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ में आचार्य आनंदवर्धन ने व्यञ्जक-व्यंग्य भाव प्रतिपादित किया है। व्यंग्य-व्यंजक भाव मूलतः वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित है, स्थिति साम्य के कारण आनंदवर्धन ने इसका उपयोग 'ध्वनि सिद्धान्त' में किया। व्यंग्य-व्यंजक भाव के अर्थ में विस्तार भी हुआ क्योंकि ध्वनि सिद्धान्त के अंतर्गत, शब्द ही नहीं, वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य की व्यञ्जकता भी प्रतिपादित है।

'ध्वनि' शब्द का प्रयोग भी आनंदवर्धन ने वैयाकरणों के मतानुसार किया है। नाद के कारणभूत वर्णों को वैयाकरणों ने 'ध्वनि' कहा है और नाद को व्यञ्जक, इस आधार पर आचार्य आनंदवर्धन ने व्यञ्जक को 'ध्वनि' कहा है। इस आधार पर व्युत्पत्ति का स्वरूप होगा—

'ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दो ध्वनिः'

१.५. ध्वनि (व्यक्ति)—'स्फोट' के अनंतर जो अर्थविस्तार होता है, वह श्रोता द्वारा ग्रहण की तृतीय अवस्था है। इसे भी भर्तृहरि ने 'ध्वनि' अथवा 'व्यक्ति' कहा है—

'कैश्चिद् व्यक्तय एवाऽस्याः ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः[2] (वा० १·९३)

अतः अर्थविस्तार भी ध्वनि कहा गया है। इस सूत्र को ग्रहण कर आचार्य आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को भी 'ध्वनि' संज्ञा दी है—

---

१. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, डॉ० वर्मा पृ. ५४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. ,, ,, ,,

'ध्वन्यते इति ध्वनिः'

वैयाकरणों ने इसे 'व्यक्ति' कहा है, आनंदवर्धन ने भी प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना प्रतिपादित की है। शब्द और अर्थ के इस धर्म को ध्वनन अथवा व्यञ्जकत्व कहा है—

'ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः'

वैयाकरणों की उपर्युक्त धारणाएँ ही, 'ध्वनि-सिद्धान्त 'में गृहीत-व्यञ्जना (व्यक्ति), व्यञ्जक-व्यंग्य-भाव और व्यञ्जकत्व का आधार है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में भी आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है कि उन्होंने यह सिद्धान्त वैयाकरणों से ग्रहण किया है, अतः वैयाकरणों से विरोध-अविरोध का प्रसंग ही नहीं होता—

"परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।"[1]

१.६. 'व्यक्ति' के उपरान्त, वक्ता के इच्छारूप अर्थ (स्वरूप) की प्रतीति कही गई है। यह अर्थ से अर्थ की व्यञ्जना का आधार है। आर्थी व्यञ्जना का मूल श्रोत यही है।

यह ध्यातव्य है कि वैयाकरणों की उपर्युक्त धारणाएँ अर्थग्रहण की प्रक्रिया के प्रसंग में हैं—और ध्वनिसिद्धान्त भी अर्थग्रहण के आयाम प्रस्तुत करता है।

'ध्वन्यालोक' में आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त' स्थापन द्वारा प्रतीयमान अर्थग्रहण कराने वाली, शब्द की व्यञ्जनावृत्ति का प्रतिपादन किया और इस प्रकार काव्य के 'सर्वांगपूर्ण' सिद्धान्त की 'रूपरेखा' प्रस्तुत की।

वैयाकरणों ने अनेकार्थक शब्दों की समस्या स्वीकार करते हुए, अर्थविनिश्चय के निम्नलिखित आधार कहे हैं—

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
भेदपक्षेऽपि सारूप्याद् भिन्नार्थाः प्रतिपत्तिषु।
नियताः यान्त्यभिव्यक्तिं शब्दाः प्रकरणादिभिः॥

इन 'संसर्ग' 'विप्रयोग' आदि आभिधानियामकों द्वारा एक अर्थ में नियत होकर भी जब शब्द अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है—तब वही प्रतीति व्यंजना है और शब्द की यह औपाधिक वृत्ति 'व्यंजकत्व। व्यंग्य-व्यंजक के सम्बन्ध की अवधारणा ही व्यंजना है। वामनाचार्य ने भी अन्यार्थ की प्रतीति मानी है, पर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. ध्व. आ. वि. तृ—उ. पृ. २७६

वे इसे निश्चित स्वरूप तक न पहुँचा सके। वही उपलब्धि आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा सम्पन्न हुई। यह स्मरण रखना चाहिये कि वैयाकरणों का सिद्धान्त आधार ही है, निर्माण आनन्दवर्धनाचार्य का अपना है।

१. ७. **सिद्धि**—व्यञ्जना का आधार तो व्याकरण में प्राप्त हुआ, परन्तु उसका स्थापन उतना सरल नहीं था। आनंदवर्धन को व्यञ्जनालब्धप्रतीयमान (व्यंग्यार्थ) की निर्विवाद अस्तित्व सिद्धि के लिये पर्याप्त तर्कों का आश्रय लेना पड़ा। अब तक शक्ति के रूप में अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य ही मान्य थीं। अतः व्यंग्यार्थ को अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और तात्पर्यार्थ से अतिरिक्त सिद्ध कर उसके स्वरूप का स्पष्ट निरूपण भी आचार्य आनंदवर्धन को करना था।

वस्तुतः ध्वनि-सिद्धान्त का आधार व्यञ्जना है, अतः व्यञ्जना की सिद्धि 'ध्वनि' की सिद्धि है। इसलिये विरोधियों ने भी व्यञ्जना का ही विरोध किया। आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि अथवा व्यञ्जनाविरोधियों के कतिपय विकल्पों को स्वयं प्रस्तुत कर उनका तर्कपूर्वक खंडन किया है। ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक में ही ध्वनिविरोधियों के विकल्प कहे गये हैं—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥[1]

'काव्य की आत्मा' ध्वनि है, ऐसा काव्यतत्त्वविदों द्वारा भली भाँति परम्परा से प्रकट किया गया है। (तब भी) कुछ उसका अभाव कहते हैं, अन्य उसे 'भाक्त' कहते हैं, और कुछ उसे वाणी का अविषय (गिरातीत, अवर्णनीय) तत्त्व कहते हैं, इसलिए 'सहृदयों के मन की प्रसन्नता हेतु उसका स्वरूप कहते हैं।'

इस श्लोक में 'ध्वनि' का निषेध करने वालों की तीन कोटियाँ कही गई हैं—

१. अभाववादी (ध्वनि का अभाव मानने वाले।)
२. ध्वनि का लक्षण में अंतर्भाव करने वाले।
३. ध्वनि को अनिर्वचनीय मानने वाले।

पुनः अभाववादियों के तीन विकल्प दिये गये हैं।[2] ये निम्नलिखित हैं—

(क) **प्रथम विकल्प**—कुछ अभाववादी यह कह कर ध्वनि का निषेध कर सकते हैं कि—'काव्य शब्दार्थ शरीर वाला है' (शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम्)। इस शब्दार्थरूप धर्म को सभी निर्विवाद रूप से स्वीकारते हैं। तथा शब्दगत अर्थात् शब्द के रूप के माध्यम से सौन्दर्य बढ़ाने वाले, 'चारुत्वहेतु' अनुप्रासादि प्रसिद्ध हैं

१. ध्वन्यालोक—आ. वि. पृ. २
२. 'तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति'। पृ. ५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हैं। अर्थगत चारुत्वहेतु उपमादि भी परिचित हैं। वर्णों की विशिष्ट संघटना से चारुत्व निष्पन्न करने वाले (वर्णसंघटनाधर्मश्च) माधुर्य आदि गुण भी प्रतीत होते ही हैं। इन गुणों से अभिन्न रहने वाली (तदनतिरिक्तवृत्तयो) जो उपनागरिका आदि वृत्तियाँ कुछ लोगों द्वारा प्रकाशित की गई हैं, वे भी श्रवणगोचर हुई हैं। वैदर्भी आदि रीतियाँ भी ज्ञात हैं (रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः)। तब इन सबसे व्यतिरिक्त यह ध्वनि नाम का क्या है ?[1]

(ख) द्वितीय विकल्प—अन्य कह सकते हैं—'ध्वनि है ही नहीं'।[2] परंपरागत मार्ग से व्यतिरिक्त मार्ग में काव्यप्रकार मानने से काव्यत्व की हानि है। अर्थात् परंपरा से जिसमें काव्यत्व माना जाता रहा है, जैसे शब्द, अर्थ, अलंकार आदि, इनसे व्यतिरिक्त (ध्वनि) में काव्यत्व स्वीकार करने से काव्यत्व की हानि ही होगी। अतः परंपराभुक्त मार्ग में ही काव्यत्व है, उससे भिन्न मार्ग 'ध्वनि' में नहीं। काव्य का लक्षण है,[3] 'सहृदयों के हृदयों को आनंद देने वाला 'शब्दार्थयुक्तत्व'। अर्थात् शब्द और अर्थ का ऐसा समायोजन, जो सहृदयों के हृदय को आनंद दे, काव्य है। परंपरा से भिन्न मार्ग में यह 'सहृदयहृदयाह्लादित्व संभव नहीं है। यदि ध्वनि-संप्रदाय में ही कतिपय व्यक्तियों को सहृदय मानकर ध्वनि में काव्य का व्यपदेश किया जाय तो अन्य विद्वानों को मान्य न होगा।[4]

(ग) तृतीय विकल्प—ध्वनि का निषेध करने वालों का तृतीय विकल्प यह हो सकता है—'ध्वनि' नाम का कुछ अपूर्व (अर्थात् पहले जिसका कथन न किया जा चुका हो ऐसा) सम्भव ही नहीं हो सकता। यदि वह (ध्वनि) कमनीयता का अतिक्रमण नहीं करता है तो पहले से कहे गये अनुप्रासादि चारुत्व हेतुओं में ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। और पहले से कहे गये चारुत्वहेतुओं में से ही किसी का (तेषामन्यतमस्यैव वा) यह नूतन नाम (ध्वनि) रखा जाता है (अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे) तो यह अतीव तुच्छ कथन होगा (यत्किंचन कथनं स्यात्)

साथ ही वाक् के अनेक विकल्प होने से, कथनशैलियों के अनन्त होने से, प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा (काव्यलक्षणविधायिभिः) कोई प्रकारलेश अप्रदर्शित रह भी गया हो (अप्रदर्शिते प्रकारलेशे) तो उस छोटे से प्रकार को ही 'ध्वनि' 'ध्वनि' कह कर, असत्य सहृदयता से आँखें बन्द कर जो नृत्य किया जाता है उसका हेतु हम नहीं जानते। (ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलि-

---

१. तदव्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ? पृ. ५

२. नास्त्येव ध्वनिः।

३. 'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।'

४. न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते। पृ. ६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तलोचनैः नृत्यते, तस्य हेतुं न विद्मः)। अनेक महात्माओं द्वारा अनेक अलङ्कारप्रकार प्रकाशित किये गये हैं—प्रकाशित किये भी जाएँगे, पर उनकी ऐसी दशा सुनाई नहीं पड़ती जैसी 'ध्वनि' 'ध्वनि' कहने वालों की है। अतः ध्वनि प्रवाद मात्र है। इसमें कुछ भी विचारणीय (क्षोदक्षमं) तत्त्व नहीं है।[१] इस विषय में आनन्दवर्धन ने अपने समकालीन मनोरथ कवि का श्लोक भी उद्धृत किया है। मनोरथ कवि ध्वनि विरोधी थे—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन् मनःप्रह्लादि सालङ्कृति,
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥[२]

'जिसमें, मन को प्रसन्न करने वाली (मनः प्रह्लादि) अलंकारसहित (सालङ्कृति) कोई वस्तु (अर्थ तत्त्व) नहीं है। जो व्युत्पन्न शब्दों (व्युत्पन्नैर्वचनैः) से रचा नहीं गया और वक्रोक्तिशून्य है (वक्रोक्तिशून्यम्), ऐसे काव्य को 'ध्वनि समन्वित है', ऐसा कहकर प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करता हुआ मूर्ख ('ध्वनिना समन्वितमिति' प्रीत्या प्रशंसन् जडो), विद्वानों के द्वारा (सुमतिना) पूछे जाने पर, ध्वनि का स्वरूप (ध्वनेः स्वरूपं) क्या कहता है (कहेगा) हम नहीं जानते।'

इस प्रकार अभाववादियों के तीन विकल्प आचार्य आनन्दवर्धन ने कहे। अब ध्वनि का विरोध करने वालों का दूसरा मत प्रस्तुत करते हैं। यह मत ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करने वालों का है।[3]

अन्य ध्वनिसंज्ञक काव्य को गुणवृत्ति कहते हैं।[४] यद्यपि 'ध्वनि' नाम का प्रयोग कर काव्य के लक्षण निर्माताओं ने गुण वृत्ति अथवा अन्य किसी प्रकार का प्रकाशन नहीं किया है। तथापि काव्य में (काव्येषु) गुणवृत्ति से (अमुख्यवृत्त्या) व्यवहार दिखलाने वालों ने[५] ध्वनिमार्ग का जरा सा स्पर्श करके भी लक्षण नहीं किया (मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति) इस प्रकार की कल्पना करके ही कहा है, 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।

---

१. तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्।
२. 'ध्वन्यालोक' आ. वि. पृ. ७
३. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' पृ. ८
४. अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः पृ. ८
५. तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये इति पृ. ९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भामह के 'काव्यालङ्कार' पर उद्भट ने 'भामहविवरण' व्याख्या लिखी थी। काव्य के हेतुओं के सम्बन्ध में भामह की निम्नलिखित कारिका है—

शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रया: कथा: ।
लोको युक्तिकलाश्चेति मन्तव्या: काव्यहेतव: ॥

उद्भट ने शब्द और अभिधान का भेद इस प्रकार किया है—"इस प्रकरण का अभिप्राय यह है कि 'शब्द' पद से शब्द का ग्रहण करना चाहिए और 'अर्थ' पद से अर्थ का। शब्द का अर्थबोधनपरक जो व्यापार है उसे 'अभिधान' पद से ग्रहण करना चाहिए। यह अभिधान या अभिधा व्यापार मुख्य या गुणवृत्ति भेद से दो प्रकार का है।"[1] इस प्रकार भामह ने 'अभिधान' पद से, उद्भट ने गुण-वृत्ति पद से और वामन ने 'सादृश्यात् लक्षणावक्रोक्तिः' में 'लक्षण' से ध्वनिमार्ग का थोड़ा सा स्पर्श अन्यार्थ की प्रतीति मानकर तो किया ही है, पर उसका लक्षण नहीं किया। 'भक्ति' में ध्वनि का अंतर्भाव करने वालों के साथ नित्यप्रवर्तमान सूचक लट् लकार के 'आहु:' का प्रयोग मत की निश्चितता की ओर संकेत करता है। 'जगदु:' और 'ऊचु:' अभाववादी मतों की संभावना का प्रकाशन करते हैं।

'भक्ति' अथवा लक्षणा के मुख्यार्थबाध, तद्योग और प्रयोजन ये तीन बीज कहलाते हैं। इन तीनों दृष्टियों से लक्षणा (भक्ति) की तीन प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है—

(१) मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः (मुख्यार्थबाधपरक व्युत्पत्ति)
(२) भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः (तद्योगपरक व्युत्पत्ति)
(३) प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः (प्रयोजनपरक व्युत्पत्ति)

इन मुख्यार्थबाधादि तीन बीजों से जो अर्थ प्राप्त होता है वह भाक्त अथवा लक्ष्यार्थ है।

'गुणवृत्ति' से शब्द और अर्थ दोनों का ग्रहण होता है। 'गगायां घोषः' इस उदाहरण वाक्य में 'सामीप्यादि' गुण हैं, इस गुण द्वारा जिस शब्द का अन्य अर्थ में वृत्तिबोधकत्व हो वह शब्द गुणवृत्ति है। 'सामीप्यादि' गुण के द्वारा ही 'गंगा' शब्द का तट अर्थ में वृत्तिबोधकत्व है। शब्द की जिस अर्थ से वृत्ति होती है, वह अर्थ भी गुणवृत्ति हो सकता है। और अमुख्य अभिधा व्यापार तो गुणवृत्ति कहा ही जाता है। गुणवृत्ति की ये तीनों व्युत्पत्तियाँ अभिनवगुप्त ने इस प्रकार दी हैं—

(१) गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च, तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य (शब्दस्य)

१. ध्वन्यालोक बा. प्रि. पृ. ४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(२) तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः (अर्थः)

(३) गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्याऽभिधान्यापारः। (व्यापारः)[1]

जैसे 'ध्वनि' की शब्दपरक, अर्थपरक और व्यापारपरक व्याख्याएँ होती हैं, वैसे ही गुणवृत्ति की भी। इसी आशय से आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है, कि कुछ लोग 'ध्वनि' को 'गुणवृत्ति' कहते हैं। ध्वनि का विरोध करने वाले, इस प्रकार के भी हो सकते हैं,जो ध्वनि के अस्तित्व को तो स्वीकार करें पर उसे वाणी के लिये अगोचर कहें। उनके मत में 'ध्वनि' अवर्णनीय है, केवल सहृदयसंवेद्य है।[2]

इस प्रकार 'ध्वनि' के विरोधियों के मतों का पूर्वस्थापन आचार्य आनन्दवर्धन ने किया। अब क्रमशः इन मतों का वाच्यार्थ द्वारा किया गया खण्डन ध्वनि अथवा व्यञ्जना का स्थापन यहाँ किया जा रहा है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है ध्वनि सिद्धान्त का आधार व्यञ्जना शक्ति से प्रतीत, व्यंग्यार्थ है। अत एव व्यंग्यार्थ की सत्ता सिद्ध करना ही प्रथम चरण है। व्यंग्यार्थं अब तक कहे गये, अभिधादि से प्राप्त अर्थ से भिन्न है, यही सिद्ध करना है। इस सिद्धि में व्यञ्जना की सिद्धि स्वतः हो जायगी, क्योंकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में किसी व्यापार और शक्ति की कल्पना करनी ही होगी। अभाववादियों के प्रथम विकल्प में शब्द और अर्थ तक ही काव्य माना गया है। अतः सर्वप्रथम वाच्यार्थ से ही व्यंग्यार्थ का भेद प्रदर्शित किया जा रहा है।

१.८ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के भेद की युक्तिप्रणाली—व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता है, तथा उसके वस्तुमात्र अलंकार, रसादि अनेक भेद हैं। इन सभी भेदों में वह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ से अन्य ही है।[3] वस्तुरूप भेद वाच्यार्थ से बहुत भिन्न है।

(१) वाच्यार्थं कभी विधिरूप होता है और प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप यथा—

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥[4]

यह कथन किसी कुलटा का है। अपने प्रिय संकेत स्थान पर, किसी पुजारी को पुष्पचयन करते देख उसके आनंद-विहार में बाधा पहुँचती है, इसलिये वह कहती

---

१. 'ध्वन्यालोक' सं० डॉ० त्रिपाठी पृ. ५५

२. केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. ९

३. स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा हि आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं, विभेदवान्......ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. १३

४. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. १३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है 'हे पुजारी निर्विघ्न भ्रमरण करो, जिस कुत्ते से तुम डरते थे, उसे तो गोदावरी तीर के कुञ्ज में निवास करने वाले दृप्त सिंह ने मार दिया है।' इस प्रकार वाच्यार्थ में 'भ्रमण करो' यह विधिरूप अर्थ है, परन्तु प्रकरण का विमर्श करने पर इस वाच्यार्थ से आक्षिप्त निषेध रूप प्रतीयमान अर्थ प्रतीत होता है, 'भ्रमण मत करो'। पहले तो कुत्ता ही था, अब उस कुत्ते को भी क्रूरतापूर्वक मारने वाला मदमस्त सिंह है, यहां वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद स्पष्ट है, अतः व्यंग्यार्थ की स्थिति माननी ही होगी।

(२) कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप होता है और प्रतीयमान अर्थ विधिरूप होता है।

श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ॥[1]

यह किसी प्रोषितपतिका का कथन है। कोई पुरुष पथिक इसके घर रात्रिनिवास करना चाहता है, नायिका की भी सहमति है, घर में नायिका की सास भी है। अतः नायिका कहती है कि 'हे रतौंधी वाले (रात्र्यन्ध) पथिक दिन में ही देख लो मैं यहां सोती हूँ और मेरी सास यहाँ, ऐसा न हो कि रात्रि में मेरी शय्या पर आ गिरो।' इस प्रकार वाच्यार्थ निषेधपरक है—कि 'शय्या पर मत गिर पड़ना' परन्तु प्रतीयमान अर्थ है, कि 'दिन में ही शय्या देखलो' 'आ ही गिरना'। अतः प्रतीयमान अर्थ विधिरूप है। यह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भेद का द्वितीय प्रमाण है, इसलिये वाच्यार्थ, में ही व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

(३) कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है परन्तु प्रतीयमान अर्थ न तो विधिरूप होता और न निषेधरूप ही, यथा निम्नलिखित श्लोक में वाच्यार्थ विधिरूप है 'कि जाओ' पर प्रतीयमान अर्थ (दुःख) न तो निषेधरूप ही है और न विधिरूप ही—

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥[2]

'यह खंडिता नायिका की उक्ति है, परस्त्री उपभोग-जन्य लक्षणों को देखकर अतीव दुःखपूर्वक वह कहती है—जाओ (व्रज)! ये निश्वास, रुदन अकेले मेरे ही हों (ममैवैकस्या) दाक्षिण्य के कारण, तुम्हें भी उसके बिना (तया विना) ये सब न भोगने पड़ें।' दक्षिण नायक वह होता है, जो अनेक महिलाओं पर समान राग रखे। यह नायक दक्षिण है, अतः इस नायिका पर भी अनुराग रखता है। पर जब वह आया है तब उसके शरीर पर अन्यस्त्री उपभोगजनित चिह्न हैं। उन्हें देखकर यह नायिका ने कहा है। यहाँ वाच्यार्थ है—'जाओ' यह विधि रूप है, परन्तु प्रतीयमान 'दुःख' न तो विधिरूप ही है, और न निषेधरूप ही।

---

१. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. १५

२. 　　„

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(४) कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेध (निषेध) रूप होता है, व्यंग्यार्थ न विधिरूप न निषेधरूप, यथा प्रस्तुत श्लोक में—

प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥[1]

आचार्य विश्वेश्वर ने इस श्लोक की तीन व्याख्याएँ की हैं और प्रथम दो को अनुचित कहकर तृतीय को ही उचित माना है—ये व्याख्याएँ इस प्रकार हैं[2]—

(क) नायिका, नायक के घर आई है, परन्तु नायक के गोत्रस्खलन आदि अपराध से क्रुद्ध होकर लौट जाना चाहती है, तब नायक ने उसके प्रति यह चाटूक्ति कही है। 'प्रार्थना करता हूँ, मान जाओ, लौट आओ। अपने चन्द्रमुख की ज्योत्स्ना से गाढ अन्धकार का नाश करके अरी हताशे! तुम अन्य अभिसारिकाओं का भी विघ्न कर रही हो।' इस व्याख्या में प्रतीयमान अर्थ वल्लभा के प्रति चाटु विशेष है।

(ख) द्वितीय व्याख्या में यह सखी की उक्ति हैं, नायिका मना करने पर भी अभिसार के लिये गमन करना चाह रही है, तब सखी कहती है 'शीघ्रता करके अनादर का पात्र बनने वाली हे हताशे, तुम न केवल अपने मनोरथ में स्वयं विघ्न कर रही हो वरन् अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न कर रही हो। इसमें सखी का चाटुरूप अभिप्राय व्यंग्यार्थ है।

इन दोनों व्याख्याओं का दोष—

सखीपक्ष में नायिका विषयक रतिरूप भाव व्यंग्य है, (अर्थात् सखी नायिका का भला चाहती है, यह उसपर अनुराग के कारण ही, अतः सखी का अनुराग व्यंग्य है।) और यह व्यंग्य 'दूसरों का भी विघ्न करोगी, लौट आओ' आदि इस वाच्यार्थ का अङ्ग बन जाता है। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण बन जाता है, क्योंकि भाव, वाच्यार्थ का अङ्ग बन रहा है।

प्रथम व्याख्या के अनुसार नायक की उक्ति मानने पर नायकगत रति वाच्यार्थ का अंग बन जाती है, तब भी यह ध्वनि का उदाहरण नहीं रहेगा। अतः उपर्युक्त दोनों ही व्याख्याओं में यह गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण बन जाता है, इसलिये ये व्याख्याएँ उचित नहीं हैं।

(ग) तृतीय व्याख्या के अनुसार—नायिका, नायक के घर की ओर जारही है, नायक रास्ते में नायिका के घर की ओर जाता हुआ मिल जाता है। अतः वह कहता है 'लौट चलो' यह वाच्यार्थ है। परन्तु 'मेरे घर चलो', 'तुम्हारे घर चलें' आदि व्यंग्य है, और व्यंग्य न विधिरूप है और न निषेधरूप लेकिन वाच्यार्थ तो प्रतिषेधरूप है।

---

१. ध्वन्यालोक पृ. १६

२. ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१.९. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के विषयगत भेद का प्रतिपादन—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में आचार्य आनन्दवर्धन ने विषयगत भेद भी बतलाया है। विषयगत भेद का अर्थ यह है कि वाच्यार्थ किसी के प्रति हो और व्यंग्यार्थ किसी और के प्रति। जैसे—निम्नलिखित श्लोक में—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥[1]

सखी का कथन है, इसमें वाच्यार्थ है 'अपनी प्रिया के सव्रण अधर को देखकर किसे रोष न होगा, मना करने पर भी भ्रमरसहित पद्म को सूँघने वाली, अब सहो!' इसका विषय है, नायिका। वस्तुतः नायिका के अधर पर परपुरुषोपभोगजनित व्रण है। सखी जानती है कि नायिका का पति इस व्रण को देखकर रुष्ट होगा, अतः इधर उधर ही कहीं श्रवणपरिधि में उपस्थित पति को जानकर भी उसकी उपस्थिति से अनभिज्ञ सी बनती हुई कह रही है कि पति समझ ले कि व्रण परपुरुषोपभोग-जनित नहीं है, भ्रमरजनित है। इस व्यंग्यार्थ का विषय पति है। अतः वाच्यार्थ का विषय नायिका और व्यंग्यार्थ का विषय पति होने से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विषयगत भेद भी सिद्ध होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता के अन्य रूप भी हो सकते हैं। अतः वाच्यार्थ तक ही काव्य नहीं है, उसके अतिरिक्त भी अर्थ होता है, यह सिद्ध हुआ। इस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं और यह व्यंजना द्वारा प्रतीत्य है।

१.१०. रसादि की व्यंग्यता—रसादि रूप ध्वनि वाच्य के सामर्थ्य से तो आक्षिप्त होती है, परन्तु शब्द का साक्षात् व्यापार न होने से वाच्यार्थ से भिन्न ही है। क्योंकि यदि वह वाच्य है तो यह वाच्यता दो ही प्रकार से हो सकती है—

(१) स्वशब्द से (अर्थात् 'रस' शब्द का प्रयोग करें या शृंगारादि शब्द का प्रयोग करें और रस की प्रतीति हो तब उसे वाच्य कहा जा सकता है)। वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्। अथवा—

(२) विभावादि प्रतिपादन द्वारा (विभावादिप्रतिपादनमुखेन) यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करें कि रस अथवा शृंगारादि के शब्दों से रस प्रतीति होती है तो 'रस' अथवा 'शृंगारादि' शब्दों का जहां प्रयोग नहीं हुआ है, वहां रस की प्रतीति नहीं होनी चाहिए।[2] परन्तु सर्वत्र रसों का स्वशब्दनिवेदितत्व नहीं होता।[3] जहाँ कहीं 'रस' अथवा शृंगारादि शब्दों का प्रयोग होता भी है वहाँ भी विशिष्ट विभावादि

---

१. ध्वन्यालोक—आ. वि. पृ. १७

२. पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः। पृ. १८.

३. न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम् ... ... "

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के प्रतिपादन द्वारा ही रस की प्रतीति होती है। 'रस' अथवा 'शृंगारादि' शब्दों के प्रयोग से वह प्रतीति अनूदित मात्र होती है।[2] उन शब्दों से वह प्रतीति नहीं होती (नतु तत्कृता)।

केवल 'रस' अथवा शृंगारादि शब्दों से युक्त (शृंगारादिशब्दमात्रभाजि) और विभावादि के प्रतिपादन से रहित (विभावादिप्रतिपादनरहिते) काव्य में थोड़ी सी भी रस प्रतीति नहीं होती। लेकिन जहाँ स्वशब्द से (रसादि शब्द से) अभिधान न भी हो, पर विभावादि का प्रतिपादन हो, रस की प्रतीति होती है।[3] केवल स्वशब्द के अभिधान से तो अप्रतीति ही सिद्ध होती है। रस तो वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यंग्य ही होता है, स्वयं वाच्य नहीं। अतः व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो मानना ही होगा।

अभाववादियों का द्वितीय विकल्प था कि, प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न में काव्य मानने से काव्यत्व की हानि है।[4] इसका उत्तर देते हुए आचार्य आनंदवर्धन कहते हैं, 'यह कथन युक्ति-युक्त नहीं हैं। क्योंकि लक्षण बनाने वालों को वह ज्ञात नहीं हुआ, इसलिए वे लक्षण न कर सके, अन्यथा लक्ष्य ग्रन्थों (रामायणादि) की परीक्षा करने पर तो वह 'ध्वनि' ही सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला तत्त्व सिद्ध होता है।[5] इससे भिन्न, अर्थात् जिसमें ध्वनि नहीं है वह चित्रकाव्य ही है।'

१.१०. अलंकारादि में ध्वनि के अंतर्भाव का निषेध—अभाववादियों का तृतीय विकल्प था, 'यदि ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करती तो पूर्वोक्त चारुत्व हेतुओं-अलंकरादि-में ही उसका अंतर्भाव हो जायगा।'[6] आनंदवर्धन इस युक्ति को भी असमीचीन मानते हैं (तदप्यसमीचीनम्)। क्योंकि वाच्य-वाचक भाव पर समाश्रित मार्ग (अलंकारादि) में व्यंग्य-व्यञ्जकभाव समाश्रित ध्वनि का अंतर्भाव कैसे हो सकता है ?[7] वाच्य-वाचक के चारुत्वहेतु (अलंकारादि) तो इस ध्वनि के अंग हैं। ध्वनि अंगी रूप है।

---

१. यत्राप्यस्ति तत् तत्राविशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। पृ. १८
२. स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते। ... ... ,,
३. यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः पृ. १८
४. प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति ध्व. वि. पृ. ३८
५. लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम् ,, ,,
६. कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः ,, ,,
७. 'वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यंग्यव्यंजकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः'

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अलंकारादि-वाच्य-वाचक पर ही आश्रित हैं, परन्तु जैसा कि पूर्व पृष्ठों में सि
किया गया है, व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है, तथा उसकी प्रतीति व्यञ्जना से ही होत
है। अतः व्यञ्जक और व्यंग्य में 'व्यञ्जकत्व' व्यापार होता है। इसलिए 'ध्वनि' व्यंग
व्यञ्जक भाव पर आश्रित है। अतः अलंकारादि चारुत्व हेतुओं में ध्वनि का अंतर्भा
नहीं हो सकता। इस संबंध में आचार्य आनंदवर्धन द्वारा उद्धृत परिकर श्लो
यह है—

व्यङ्गयव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ॥[१]

[ध्वनि के व्यंग्य-व्यंञ्जक संबंध पर आधारित होने के कारण, वाच्यवाचकभा
पर आश्रित चारुत्व हेतुओं में अन्तर्भाव कहाँ।]

परन्तु, अलंकारादि में ध्वनि का अन्तर्भाव करनेवालों का कथन है कि जहाँ प्रती-
यमान अर्थ की विशदता से प्रतीति नहीं होती वहाँ भले ही ध्वनि का विषय न मा
पर जहाँ विशदतापूर्वक प्रतीति है, जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त, विशेषोक्ति
पर्यायोक्ति अपह्नुति, दीपक, संकर आदि अलंकारों में तो प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति
होती है, वहाँ तो ध्वनि का चारुत्वहेतु अलंकारों में अन्तर्भाव माना ही जा सकेगा।[२]

अभाववादियों की इस मान्यता का निराकरण भी आचार्य आनन्दवर्धन ने किय
है। 'ध्वनि' की परिभाषा है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[३]

अर्थात् जहाँ अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत कर अर्थान्तर क
अभिव्यक्ति करते हैं वहाँ ध्वनि है।[४] इसका आशय है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीत
ही प्रमुख हो शब्द का अभिधेय गौण हो, अथवा वाच्यार्थ गौण होकर विशदतापूर्व
व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराये तब ध्वनि कही जा सकती है। उपरि कथित अलंकार
में अर्थान्तर की प्रतीति तो होती है परन्तु वाच्यार्थ गुणीभूत नहीं होता, अथवा कहें क

१. ध्वन्यालोक पृ. ३८
२. ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम माभूद् ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रती
तिरस्ति यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करा
लङ्कारादौ तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति।'··· ··· ··· पृ. ३९
३. ध्वन्यालोक पृ. ३७
४. अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स
ध्वनिरिति। पृ० ३९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थान्तर प्रमुख नहीं होता । इसलिये इन अलंकारों से ध्वनि का अंतर्भाव भी नहीं हो सकता । यहाँ पहले कहे गये सभी अलंकारों के उदाहरण देकर आचार्य आनंदवर्धन अपने कथन को प्रमाणित करते हैं कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता में ही ध्वनि है ।[1] समासोक्ति आदि में व्यंग्य की प्रधानता नहीं होती । यहाँ समासोक्ति अलंकार का यह उदाहरण प्रस्तुत है—

'उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥'[2]

राग को धारण किये हुए (उपोढरागेण) चंद्रमा के द्वारा (शशिना) चंचलतारों वाले (विलोलतारकं) रात्रि के मुख को (निशामुखम्) इस प्रकार ग्रहण किया गया कि अनुराग के कारण (रागाद्) समस्त अंधकाररूपी वस्त्र गिर जाने पर भी रात्रि को ज्ञात न हुआ (गलितं न लक्षितम्) 'नायक-नायिका पक्ष में इसका अर्थ होगा, 'नायक ने अनुराग से पूर्ण होकर नायिका के चंचल पुतलियों वाले मुख को पकड़ लिया । स्पर्शजनित सुख के कारण वह नायिका ऐसी अवश हो गई कि उसे अपने वस्त्र का गिर जाना भी ज्ञात न हो सका ।' समासोक्ति अलंकार में समान विशेषणों से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है ।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार 'श्लेषयुक्त विशेषणों द्वारा अप्रकृत का कथन, दो अर्थों का संक्षेप में कथन होने से समासोक्ति अलंकार कहलाता है ।' उपर्युक्त उद्धरण में 'उपोढरागेण' 'विलोलतारकं' 'रागाद् गलितम्' आदि श्लिष्ट विशेषणों द्वारा, 'रात्रि' और 'नायिका विषयक' दो अर्थों की प्रतीति हो रही है । नायक-नायिका विषयक अर्थ अप्रकृत अर्थ है । अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाली इसमें नायक-नायिका विषयक अर्थ की प्रतीयमान अर्थ कहकर चारुत्वहेतुओं में ध्वनि का अंतर्भाव सिद्ध करना चाहते हैं ।

आचार्य आनंदवर्धन का कथन है कि----यह ठीक है कि यहाँ व्यंग्यार्थ, नायक-नायिका परक है, और उसकी प्रतीति भी हो रही है । परन्तु, निशा और चन्द्र विषयक वाच्यार्थ ही यहाँ प्रमुख है । व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ का अंग बन रहा है ।' व्यंग्यार्थ से अनुगत वाच्य की प्रधानतया प्रतीति होने से यहाँ ध्वनि नहीं हो सकती ।[4]

---

१. व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । न चैतत् समासोक्त्यादिषु ।

२. ध्वन्यालोक----आ. वि. पृ. ३९.

३. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषण-माहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि, यत् अप्राकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः । का. प्र. पृ. ४७४

४. इत्यादौ व्यंग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते । समारोपितनायिकानायक-व्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् । पृ. ४०

CC-0 Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अतः समासोक्ति अलंकार में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी, उसका प्राधान्य न होने से ध्वनि का अंतर्भाव नहीं कहा जा सकता।

आक्षेप अलंकार में यद्यपि वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का आक्षेप कराता है, तथापि वाच्यार्थ का चारुत्व ही प्रधान होता है अतः व्यंग्यार्थ वहाँ भी प्रमुख नहीं होता। आक्षिप्त व्यंग्यार्थ की सामर्थ्य से ही वाच्यार्थ का ज्ञान होता है।[1]

'आक्षेप' की परिभाषा आचार्य मम्मट ने इस प्रकार कही है—'जो बात कहना चाहते हैं, उसमें विशेष उत्कर्ष प्रकट करने के लिए जो उसका निषेध किया जाय वह (१) वक्ष्यमाणविषयक (अर्थात् जो बात आगे कहनी है उसका) पहले से ही निषेध करके कहा जाय। अथवा (२) पूर्वकथित का निषेध करके कथन किया जाय।' वह आक्षेप दो प्रकार का होता है।[2]

आक्षेप अलंकार का उदाहरण है—

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥[3]

अनुराग से पूर्ण सन्ध्या भी है, दिवस भी उसके आगे बढ़ रहा है, पर कैसी दैवगति है कि तब भी समागम नहीं होता। नायिका-नायक पक्ष में अर्थ होगा—अनुराग से पूर्ण नायिका है, नायक भी उसके समक्ष है तब विलक्षण दैव की गति के कारण मिलन नहीं हो पाता। यहाँ सन्ध्या विषयक अर्थ वाच्यार्थ है और नायिका-विषयक व्यंग्यार्थ, परन्तु इस व्यंग्यार्थ के आक्षेप से ही संध्याविषयक वाच्यार्थ का चारुत्व बढ़ता है। और वाच्यार्थ ही सुन्दर लगता है। आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दों में—यहाँ व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व है, उस (वाच्य) की ही प्राधान्येन विवक्षा है।[4]

दीपक और अपह्नुति अलंकार में उपमा की व्यंग्य रूप में प्रतीति होती है। पर वहाँ भी वह व्यंग्य उपमा प्राधान्येन विवक्षित नहीं होती। यदि व्यंग्य उपमा का ही प्राधान्य विवक्षित होता तो उसे 'उपमा' अलंकार ही क्यों न कहते? उपमाकृत

---

१. आक्षेपेऽपि व्यंग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं, प्राधान्येन वाक्यार्थक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते।·········ध्व० पृ. ४२···

२. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥ का. प्र. आ. वि. पृ. ४९७

३. ध्वन्यालोक—आ. वि. पृ. ४२

४. अत्र सत्यामपि व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्य विवक्षा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चारुत्वोत्कर्ष न होने से ही 'उपमा' नाम से व्यवहार नहीं होता।[1] अतः दीपक और अपह्नुति में भी ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता।

दीपक अलंकार में उपमेय और उपमान के क्रियादिरूप धर्म का एक ही बार कथन किया जाता है। बहुत सी क्रियाओं के एक ही कारक का कथन भी दीपक ही है।[2] जैसे----

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम्॥

कृपणों के धन, नाग की मणि, सिंह की अयाल और कुलस्त्रियों के स्तनों को उनके मरे बिना कैसे स्पर्श किया जा सकता है। इसमें 'कुलबालिकानां स्तनाः' उपमेय है, शेष, 'कृपणानां धनं' आदि उपमान। 'स्पृश्यन्ते' इस क्रिया द्वारा समान धर्म का कथन है, उपमा व्यंग्य है। परन्तु, व्यंग्य उपमा का प्राधान्य नहीं है। "दीपक' इस अन्य नाम से कहा जाना ही, व्यंग्य 'उपमा' के अप्राधान्य का प्रमाण है।

अपह्नुति में उपमेय का निषेध करके उपमान का कथन किया जाता है।[3] जैसे----

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये,
कलंको नैवायं विलसति शशांकस्य वपुषि।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे,
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि॥

हे पार्वती (शैलतनये!) परिपूर्ण (परिणतरुचः) चन्द्रमा के शरीर (शशांकस्य वपुषि) में प्रगल्भताप्राप्त यह कलंक नहीं है, वरन् रति से थकी हुई रात्रि चन्द्रमा के अमृत प्रवाह के कारण शीतल वक्ष पर सिर रखकर लेटी हैं। यहाँ उपमेय 'चंद्र पर कलंक' का निषेध कर उपमान का कथन किया गया है। उपमानोपमेय भाव अर्थात् उपमा व्यंग्य है। परन्तु उसका प्राधान्य नहीं है। अतः दीपक अपह्नुति आदि में ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में प्रकरणवश व्यंग्य की प्रतीति मात्र होती है, वह प्रतीति किसी सौन्दर्य अथवा चमत्कार को उत्पन्न नहीं करती, अतः उसका प्राधान्य

---

१. यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यंग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तथा व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्.........ध्व. आ. वि. पृ. ४३

२. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥	का. प्र. प्रा. वि. पृ. ४८७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

३. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः.........का. प्र. आ. वि. पृ. ४७०

नहीं होता।[1] विशेषोक्ति में अखण्ड कारणों का सद्भाव होने पर भी कार्य नहीं होता।[2] यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की होती है--(१) अनुक्तनिमित्ता (२) उक्तनिमित्ता तथा (३) अचिन्त्यनिमित्ता। उक्तनिमित्ता में और अचिन्त्यनिमित्ता भेदों में व्यंग्यार्थ का अवसर ही नहीं होता। अतः आचार्य आनंदवर्धन ने अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण दिया है क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ का अवसर है। अनुक्तनिमित्ता में निमित्त का कथन नहीं होता, परन्तु वह अचिन्त्य भी नहीं होता, उसकी कल्पना की ही जा सकती है। जैसे इस उदाहरण में---

> आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
> गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति॥

'साथियों के द्वारा पुकारे जाने पर भी (आहूतोऽपि सहायैः) हाँ कहकर जाग जाने पर भी (ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि) जाने की इच्छा होने पर भी (गन्तुमना अपि) पथिक संकोच नहीं छोड़ता (पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति) यहाँ पथिक के संकोच न छोड़ने के निमित्त की कल्पना की जा सकती है। भट्ट उद्भट ने शीताधिक्य को, अन्य प्रियादर्शन कराने वाले स्वप्नलोभ को निमित्त मानते हैं। यह निमित्त ही यहाँ व्यंग्य है। परन्तु इसमें कोई चमत्कार नहीं है। अतः विशेषोक्ति में भी ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता।

पर्यायोक्ति में अलंकार में यदि व्यंग्यार्थ की प्राधान्येन प्रतीति हो तो पर्यायोक्ति का अंतर्भाव ध्वनि में किया जा सकता है, परन्तु ध्वनि का पर्यायोक्ति में नहीं।[3] आचार्य मम्मट ने पर्यायोक्ति का लक्षण किया है—

'वाच्य-वाचक भाव बिना जो कथन करना वह पर्यायोक्ति अलंकार है।'[4] जैसे 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' आदि श्लोक में भ्रमण का निषेध, 'वाच्य-वाचक भाव से प्रकट नहीं होता' वह व्यंग्य-व्यंजक भाव से व्यक्त होता है। अतः वहाँ कथन वाच्य-वाचक भाव बिना ही है।

---

१. अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ...इत्यादौ व्यंग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम्। न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम्। पृ.४[illegible]

२. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः-काव्य प्र० आ० वि० पृ. ४९८. 'अनुक्तनिमित्ता' 'उक्तनिमित्ता' 'अचिन्त्यनिमित्ता च.

३. पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। पृ. ४६

४. काव्यप्रकाश: आ. वि. पृ. ५२१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और भामह ने जो पर्यायोक्ति को उदाहृत किया है, वहाँ तो व्यंग्य का प्राधान्य ही नहीं है। उस उदाहरण में वाच्य का उपसर्जनीभाव (गौणभाव) विवक्षित नहीं है, अर्थात् वाच्यार्थ ही प्रधान है। इसलिए 'पर्यायोक्ति'में ध्वनि का अंतर्भाव कैसे हो सकता है।

पुन: 'ध्वनि' तो महाविषय है। वह तो अंगी के रूप प्रतिपादित किया जायेगा।[१]

अपह्नुति और दीपक में वाच्यार्थ की प्रधानता और व्यंग्यार्थ की आनुषंगिकता (अनुयायित्वं) प्रसिद्ध ही है। अत: उपर्युक्त अलंकारों में ध्वनि जैसे महाविषय का अन्तर्भाव नहीं कहा जा सकता।

संकर अलंकार में जहाँ एक अलंकार, दूसरे अलंकार की छाया को पुष्ट करता है, वहाँ भी व्यंग्य की प्राधान्येन विवक्षा न होने से, ध्वनि का विषय नहीं होता।[२] संकर अलंकार के चार भेद होते हैं—(१) अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, (२) एकवाक्यानुवर्तन संकर (३) एकवाक्यांशसमावेशरूप संकर (४) सन्देह संकर।

जहाँ अनेक अलंकार परस्पर उपकारक भाव से स्थित हों, स्वतंत्र भाव से स्थित न हों, वहाँ अङ्गाङ्गिभाव संकर अलंकार होता है।

जहाँ एक ही वाक्य अथवा वाक्यांश में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों हो, वहाँ एकवाक्यानुवर्तन संकर अथवा एकवाक्यांशसमावेश संकर अलंकार क्रमश: होते हैं।

विरुद्ध अलंकारों का वर्णन एक साथ होने पर, किसे प्रधान माना जाय और किसे गौण, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है—इस प्रकार की स्थिति में संदेह संकर अलंकार कहा जाता है। इस संदेह संकर के प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि 'अलंकार द्वय की संभावना के कारण, वाच्य और व्यंग्य का समान प्राधान्य होगा'[३] अत: एक के गुणीभूत और द्वितीय प्रधान होने का प्रश्न ही नहीं होता, ऐसी स्थिति में संन्देहसंकर में ध्वनि का अंतर्भाव संभव नहीं है।

अंगांगिभाव संकर में, वाच्य यदि उपसर्जनीभाव से व्यंग्य के प्रति स्थित हो तो इस प्रकार के संकर को ध्वनि का विषय कहा जा सकता है। परन्तु वही एक ध्वनि है यह नहीं कहा जा सकता।[४]

---

१. तस्य महाविषयत्वेन. अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। पृ...४६

२. सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति तदा व्यंग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्।

३. 'अलंकारद्वयसम्भावनायान्तु वाच्यव्यंग्ययोः समं प्राधान्यम्'

४. अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यंग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पुनः यह भी ध्यातव्य है कि संकरालंकार में, संकर शब्द का प्रयोग ही ध्वनि की संभावना का निराकरण कर देता है। 'संकर' शब्द संकीर्णता का वाचक है। अतः किसी एक अलंकार की प्रधानता होने पर संकीर्णता ही नहीं रहेगी। इसलिए 'संकर' शब्द का प्रयोग ही इस बात का सूचक है कि संकर अलंकार के सभी भेदों में कोई भी अलंकार प्रधान नहीं होता। अतः इसमें ध्वनि का प्रश्न नहीं उठता।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में भी ध्वनि का अंतर्भाव नहीं होता। अप्रस्तुतप्रशंसा में, अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का आक्षेप किया जाता है। आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुत-प्रशंसा की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली अप्रस्तुत की प्रशंसा, अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।'[1]

अप्रस्तुतप्रशंसा के तीन भेद हैं---(१) सामान्यविशेष भावमूलक, (२) कार्यकारण भावमूलक, (३) सादृश्यमूलक। प्रथम और द्वितीय के दो-दो भेद होकर चार तथा एक सादृश्यमूलक, इस प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेद हो जाते हैं। सामान्य-विशेष भावमूलक में---सामान्य प्रस्तुत और विशेष अप्रस्तुत हो सकता है तथा इसका विपरीत भी, इसी प्रकार कार्यकारण भाव में कार्य प्रस्तुत हो तथा कारण अप्रस्तुत हो सकता है, और इसके विपरीत भी हों इस प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा में 'सामान्य विशेष भाव से अथवा निमित्तनिमित्त भाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत के साथ संबन्ध होता है, तब अभि-धीयमान अप्रस्तुत और प्रतीयमान प्रस्तुत, ये दोनों समानरूपेण प्रधान होते हैं।[2]

जब अभिधीयमान अप्रस्तुत सामान्य का प्रतीयमान प्रस्तुत (प्राकरणिकेन) विशेष के साथ सम्बन्ध होता है तो विशेष की प्रतीति होने पर भी उस विशेष से आविना भाव से सम्बन्धित सामान्य की भी उतनी ही प्रधानता से प्रतीति होती है। क्योंकि विना विशेष के सामान्य नहीं रह सकता इसलिये विशेष के सामान्यनिष्ठ होने पर सामान्य के साथ विशेष की भी समान रूप से प्रतीति होती है।[3] सामान्य

१. 'अप्रस्तुतप्रंशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया' का. प्र. आ. वि. पृ. ४७६.

२. 'अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तिनिमित्तभावाद्वाभिधीय-मानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदा अभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्'।

३. यदा तावत् सामान्यस्याप्रस्तुतस्य अभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीय-मानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये, सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम्...'ध्व' पृ. ५१.

CC-0 Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection

में क्योंकि सभी विशेषों का अन्तर्भाव होता ही है। इसी प्रकार कार्यकारण रूप अप्रस्तुतप्रशंसा में भी है, वहाँ अप्रस्तुत अभिधीयमान कार्य के साथ प्रतीयमान प्रस्तुत कारण और अभिधीयमान अप्रस्तुत कारण के साथ प्रतीयमान प्रस्तुत कार्य की भी समान रूप से प्रतीति होती है। अतः प्रधानता और गौणता का प्रश्न अप्रस्तुत-प्रशंसा में भी नहीं हैं।

सादृश्यमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा मे जहाँ अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है, वहाँ अभिधीयमान अप्रस्तुत तुल्य पदार्थ का (सरूपस्य) प्राधान्य विवक्षित न होने पर (अर्थात् अभिधीयमान अप्रस्तुत तुल्य परार्थ के गौण होने पर) इसका ध्वनि में अंतर्भाव हो सकेगा (प्रधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः)। जब यह गौण नहीं होगा तथा प्रस्तुत के साथ समान रूप से विवक्षित होगा, तब अलंकार ही होगा।[1]

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः॥

जहाँ व्यंग्य का अप्राधान्य होता है, वह वाच्य का अनुयायी मात्र होता है, वहाँ समासोक्ति आदि वाच्यालंकार स्पष्ट ही है।

व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
नै ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥

जहाँ व्यंग्य का आभास मात्र (प्रतिभामात्र) हो, अथवा वह वाच्यार्थ का अनुगमन करता हो (वाच्यार्थ की पुष्टि करता हो) अथवा उसकी प्रधानता प्रतीत न होती हो, वहाँ भी ध्वनि नहीं है।

तत्परावेव शब्दार्थौ तत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः॥

शब्द अर्थ और (शब्दार्थौ) जहाँ. व्यंग्यनिष्ठ हों, व्यंग्य के प्रति तत्पर हों (तत्परावेव) वहीं ध्वनि का संकर रहित विषय समझना चाहिये। अतः चारुत्व हेतुओं अलंकारादि में ध्वनि का समावेश नहीं हो सकता। व्यंग्य का जिसमें प्राधान्य हो उस काव्य विशेष को ध्वनि कहा है। अलंकार, गुण, वृत्ति आदि उसके अंग रूप में ही प्रतिपादित किये जाएँगे। और पृथक-पृथक (पृथग्भूतो) अवयवों को ही अवयवी नहीं कहा जाता। और समन्वित रूप में तो अवयव, अवयवी के अंग ही कहे जाते हैं, स्वयं अंगी नहीं। ध्वनि के महाविषय होने से अलंकारादि में उनका

१. इतरथात्वलङ्कारान्तरमेव पृ. ९९.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अंतर्भाव नहीं होता ।[1] इस प्रकार आचार्य आनंदवर्धन ने अभाववादियों की तृतीय उक्ति का उत्तर दिया । यह सिद्ध हुआ कि व्यंग्यार्थ की स्वतंत्र सत्ता है, उसका अंतर्भाव कहीं नहीं हो सकता । उसका अन्तर्भाव कहीं नहीं हो सकता और जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो वहीं ध्वनि का विषय है अन्यत्र नहीं ।

पुनः आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा संस्तुत ध्वनि सिद्धान्त, यों ही कह दिया गया सिद्धान्त नहीं है वरन् पहले भी विद्वान् इसका संकेत कर चुके हैं । सर्वप्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण ही समस्त विद्याओं का मूल है । वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' का व्यवहार करते हैं ।[2] वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्य के तत्त्व के ज्ञाता विद्वान इसीलिए (१) वाच्य, (२) वाचक, (३) व्यंग्यार्थ, (४)व्यञ्जनाव्यापार और (५) काव्य पद में ध्वनि का व्यपदेश करते हैं अतः ध्वनि सिद्धान्त का आधार व्याकरण है । इसलिए इसे यों ही कहा हुआ कथन मात्र नहीं समझ लेना चाहिए ।

इस प्रकार के स्वरूप वाली और आगे जिसके भेद-प्रभेदों का कथन किया गया है ऐसी ध्वनि का निरूपण, किसी अप्रसिद्ध अलंकार के प्रतिपादन तुल्य नहीं है ।[3] अतः ध्वनि के प्रतिपादन में जो उत्साह है, वह समुचित ही है । वह ध्वनिविरोधियों के उस कथन का उत्तर है जिसमें ध्वनिवादियों के ध्वनि के प्रति उत्साहातिरेक को अकारण कहा गया था ।

अतः 'ध्वनि' के अभाव को मानने वालों की युक्तियों को निरस्त किया गया और व्यंग्यार्थ की अभिधेयार्थ से भिन्न सत्ता सिद्ध की गई । आचार्य आनंदवर्धन ने व्यंग्यार्थ की दृष्टि से और व्यञ्जक की दृष्टि से भी व्यञ्जना व्यापार सिद्ध किया है । यहाँ व्यंग्यार्थ के स्तर पर सिद्धि का सोपान है । परन्तु, व्यंजक की दृष्टि से प्रतिपादन के पूर्व उन मतों का निराकरण भी आवश्यक है, जो व्यंग्यार्थ का लक्ष्यार्थ में और व्यञ्जना को लक्षणा में अंतर्भावित करना चाहते हैं ।

१.११ व्यंग्यार्थ का लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव का निषेध—सर्वप्रथम, व्यंग्यार्थ का लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव अतः निषिद्ध सिद्ध किया जा रहा है

१. यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि, अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति । प्रतिपादयिष्यन्ते । न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः । अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य । ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव । पृ. ५ ध्व० आ. वि.

२. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति ।

३. महाविषयस्य यत् प्रकाशनं तदप्रसिद्धालंकारविशेषमात्रप्रतिपादने तुल्यमिति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भक्ति, "ध्वनि है, यह कथन अनुपयुक्त है। इसका समाधान इस प्रकार होगा। 'भक्ति' 'ध्वनि' से एकत्व प्राप्त नहीं करती, क्योंकि इस ध्वनि का स्वरूप ही भिन्न है—

'भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः' वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ (व्यंग्यार्थ) वाच्य वाचक द्वारा जहाँ प्रधानता से तात्पर्यरूप में प्रकाशित होता है' वहाँ ध्वनि होती है, और भक्ति तो उपचार मात्र है। भक्ति में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वालों के तीन विकल्प हो सकते हैं—

(१) भक्ति और ध्वनि में अभेद ही है। इसका प्रत्युत्तर आचार्य आनन्दवर्धन ने दिया है कि, 'भक्ति' और ध्वनि में स्वरूप का भेद होने से इनमें एकत्व नहीं हो सकता, क्यों कि व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होने पर ध्वनि होती है और जब शब्द मुख्यार्थ को छोड़ कर, उसी से सम्बन्धित अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, तब लक्षणा होती है। इसलिये रूपभेद के कारण 'भक्ति' और 'ध्वनि' में एकत्व नहीं हो सकता।

(२) द्वितीय विकल्प यह है कि भक्ति, 'ध्वनि' का लक्षण हो। यह भी संभव नहीं है। भक्ति, ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण माना गया तो 'अतिव्याप्ति' और अव्याप्ति' दोष होते हैं।[1]

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया'

'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह ध्वनि उससे (तया, भक्ति) से लक्षित नहीं होती।'

अतिव्याप्ति वहाँ होती है जहाँ भिन्न विषय में भी लक्षण घटित होने लगे। ध्वनि से व्यतिरिक्त विषय में भी 'भक्ति' होती है।[2] यदि ध्वनि का लक्षण भक्ति है तो जहाँ 'भक्ति' है वहाँ ध्वनि भी होनी ही चाहिये परन्तु ऐसा नहीं है। ऐसे स्थलों पर भी, जहाँ ध्वनि नहीं है, 'भक्ति' होती है। जहाँ व्यंग्यकृत महान सौष्ठव नहीं होता वहां भी कवि प्रसिद्धि के अनुरोध से अथवा उपचार या गौणी शब्दवृत्ति से व्यवहार करते। जैसे—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः,
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः,
कृशाङ्गयाः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्॥[3]

यह 'रत्नावली' नाटिका से उद्धृत श्लोक है। सागरिका मदनशैय्या को छोड़कर

१. नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च।
२. तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्।
३. ध्वन्यालोक आ० वि० पृ० ९९।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चली गई है। तदुपरान्त राजा और विदूषक, कुंज में प्रवेश करते हैं। राजा सागरिका द्वारा छोड़ी हुई शैय्या को देखकर विदूषक से कहता है कि यह 'विसिनीपत्र शयनम्' उस कृशांगी के सन्ताप को कहता है। पूर्ण श्लोक अर्थ का इस प्रकार है

'[सागरिका के] पुष्ट स्तन और जघन प्रदेश के संग से यह कमलपत्र की शैय्या दोनों ओर से मलिन हो गई है, मुर्भा गई है। परन्तु कटिप्रदेश के भाग से स्पर्शित न होने के कारण [परिमिलनमप्राप्य] बीच का भाग हरा ही है। इसकी रचना [न्यासम्] श्लथ भुजाओं के इधर उधर फेंके जाने के कारण व्यस्त हो गई है। इस प्रकार की यह कमलपत्र की शैय्या उस कृशांगी के विरह संताप का कथन करती है।'

यहाँ 'वदति' में लक्षणा है। परन्तु, यहां ध्वनि का स्थल नहीं है। यदि लक्षणा को ध्वनि का लक्षण कहें तो यहाँ उसकी संगति कैसे होगी। क्योंकि यहां भक्ति (लक्षणा) तो है ध्वनि नहीं। अतः लक्षण मानने से अतिव्याप्ति दोष होगा। ऐसे ही अतिव्याप्ति का उदाहरण यह है----

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितमुख्यो विहसन्त्यः।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः॥[1]

स्वैरिणी महिलाएँ, कुपित, प्रसन्न अथवा रुदन से भी, हँसते हुए भी, सभी प्रकार चित्त का हरण कर लेती हैं। यहाँ 'गृहीता, और 'हरन्ति' में लक्षणा तो है पर ध्वनि यहाँ भी नहीं है। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अतिव्याप्ति' के प्रसंग को सिद्धि करने के लिए निम्नलिखित दो उदाहरण और दिये हैं—

(१) भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः पियेण स्तनपृष्ठे।[2]
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम्॥

प्रिय के द्वारा (प्रियेण) नवीना (नवलतया) भार्या के (भार्यायाः) स्तन पर दिया गया (दत्तः) मृदु प्रहार भी सपत्नियों के हृदय को दुस्सह होगया (दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम्) इस श्लोक में दत्तः में लक्षणा है। किसी वस्तु पर अपना अधिकार हटाकर अन्य के अधिकार में दे देने को दान कहते हैं। अहार के साथ 'दत्तः' अनुपयुक्त है इसलिये यहाँ 'दत्तः' का लक्ष्यार्थ ही संगत होगा। परन्तु यहाँ ध्वनि का विषय नहीं है।

---

१. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. ६० ।

२. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. ६० CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(२) परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो,
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः,
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न तुनरगुणाया मरुभुवः ॥[1]

'जो दुसरों के लिये (परार्थे) पीडा का अनुभव करता है। (पीडामनुभवति), अपमानित होने पर भी भङ्गेऽपि) मधुर रहता है (मधुरः) जिसका विकार, क्रोधादि (वकारोऽपि) भी सबको (सर्वेषाम्) अच्छा लगता हे। (अभिमतः)। यदि अनुचित स्थान में पड़कर (भृशमक्षेत्र पतितः) यदि वह वृद्धि नहीं पाता (वृद्धि न सम्प्राप्तो) तो क्या यह इक्षु का दोष है, उस अगुण मरुभू का दोष नहीं।'

यहाँ इक्षु (गन्ना) पक्ष में 'अनुभवति' किया बाधितार्थ है, क्योंकि अनुभव तो चेतन का धर्म है, जड 'इक्षु' का नहीं—अतः 'अनुभवति' का लक्ष्यार्थ 'पीड्यमानत्व' लेना पड़ता है। इस प्रकार यहाँ लक्षणा (भक्ति) तो है, पर ध्वनि नहीं। इसलिए भक्ति (लक्षणा), 'ध्वनि' का लक्षण नहीं हो सकती, क्योंकि तब अतिव्याप्ति दोष होगा। अतः ऐसी ध्वनि का विषय नहीं होता।

'भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष भी होगा। क्योंकि ध्वनि का एक भेद अभिधामुलक भी हैं, जिसे विवक्षितान्यपरवाच्य कहा जाता है। इसके भी अन्य अनेक भेद होते हैं। इसमें लक्षणा होती ही नहीं है। अतः 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण आनने पर इस प्रकार के उदाहरणों में जहाँ ध्वति तो है, भक्ति नहीं है, 'अव्याप्ति' दोष होगा। इसलिए 'अतिव्याप्ति' और 'अव्याप्ति' दोषों के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।[2]

अन्य उक्ति से (उक्त्यन्तरेण) जो चारुत्व (चारुत्वम्) प्रकाशित करना (प्रकाशयन्) अशक्य होता है (अशक्यम्) उस चारुत्व का प्रकाशन करने वाला व्यञ्जकत्व धारण करने वाला शब्द ही ध्वनि कहलाने का विषय है।

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥[3]

इसका आशय हुआ, कि व्यंजक शब्द द्वारा जिस चारुत्व का निष्पादन होता है वह चारुत्व अन्य किसी उक्ति से संभव नहीं है। और ऐसे ही शब्द को ध्वनि कहा

१. ध्वन्यालोक, आ० वि० पृ. ६१
२. अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य। नाहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये च बहवः प्रकाराः······तस्माद् भक्तिरलक्षणम्·········पृ. ६५.
३. ध्वन्यालोक आ०. वि०. पृ. ११.

CC-0 Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जा सकता है। ध्वनि सिद्धान्त में 'शब्द' अर्थ, व्यापार, काव्य आदि सबके लिए विभिन्न व्युत्पत्तियों का आश्रय लेकर 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ व्यंजक शब्द को 'ध्वनि कहने की युक्ति दी गई है।

आचार्य आनन्दवर्धन, अपने विषय से भिन्न अर्थ रूढ़ हो गये शब्दों को भी ध्वनि का विषय नहीं मानते। 'लवण' से निष्पन्न 'लावण्य' शब्द है। लावण्य का अर्थ है लवणयुक्त, परन्तु 'लावण्य' शब्द इस अर्थ से भिन्न अर्थ (सौन्दर्यादि) में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार के शब्दों में ध्वनि का विषयत्व नहीं है—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः॥[1]

('लावण्यादि' शब्द अपने विषय से भिन्न विषय में रूढ़ होकर प्रयुक्त होते हैं, वे भी 'ध्वनि' पद के विषय नहीं हैं)

इस प्रकार के शब्दों में उपचरित गौणी वृत्ति (लक्षणा) तो है ही। इस प्रकार विषय में कहीं ध्वनि हो भी तो वह उस रूढ़ शब्द के कारण नहीं होती, वरन् उसका कारण अन्य ही होता है।

इसके अतिरिक्त, लक्षण में ध्वनि के अन्तर्भाव न होने के अन्य भी कारण हैं। जिस प्रयोजन का बोध कराने के लिये मुख्य अभिधा व्यापार को छोड़कर गुणवृत्ति का आश्रय लिया जाता है, उस प्रयोजन के प्रति 'शब्दस्खलद्गति' (बाधित) नहीं होता—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं, तत्र शब्दो नैव स्खलद्गति॥[2]

इसका आशय यह है कि शब्द जब मुख्यार्थ में बाधित होता है, तब लक्षणा होती है। जैसे 'गंगायां घोषः' उदाहरण में 'गंगा प्रवाव में ग्राम की स्थिति 'असंभव होने से 'गंगा' शब्द का 'प्रवाह रूप' मुख्यार्थ बाधित है—या कहें 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थ में 'स्खलद्गति' है। मुख्यार्थ में स्खलद्गति होने से ही वह तट रूप लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। इस प्रयोग का प्रयोजन है, शैत्य, पावनत्वादि की प्रतीति। परन्तु इस प्रयोजन के प्रति गंगा शब्द स्खलद्ति नहीं है। इस प्रयोजन की प्रतीति के लिये ही मुख्यवृत्ति को त्याग कर लक्षण द्वारा अर्थ दर्शन कराया गया है।

लक्षणा द्वारा अर्थ प्रतीति में, मुख्यार्थबाध, तद्योग, रूढ़ि अथवा प्रयोजन होना अनिवार्य है। परन्तु व्यंग्यार्थ (प्रयोजन) के प्रति शब्द के अर्थ में बाध न होने से

१. ध्वन्यालोक आ० वि० पृ० ६२
२. ध्वन्यालोक आ० वि० पृ० ६२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अथवा कहें कि प्रयोजन में शब्द के स्खलद्वति न होने से प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती। अतः प्रयोजन तो व्यंग्य ही होगा। इस प्रकार व्यञ्जनागम्य व्यंग्यार्थ (प्रयोजन) और बाधितमुख्यार्थ से प्रतीत लक्ष्यार्थ का भेद और स्वरूप स्पष्ट होने से लक्ष्यार्थ अथवा लक्षणा में व्यंग्यार्थ अथवा व्यञ्जना का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। फिर भी यदि 'चारुत्वातिशयविशिष्ट अर्थ के प्रकाशनरूप प्रयोजन के सम्पादन में यदि शब्द बाधितार्थ हो तब तो शब्द का प्रयोग ही दूषित होगा।'[1]

इसलिये गुणवृत्ति तो वाच्य-वाचक मात्र पर आश्रित है। व्यंग्य-व्यञ्जक भाव पर आश्रित व्यञ्जना का यह लक्षण कैसे हो सकती है—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्॥[2]

(वाचक के आश्रय से गुणवृत्ति व्यवस्थित है, वह व्यञ्जकत्व पर आधारित ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है।)

तब भक्ति, ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण तो हो सकती है।' यह 'भक्ति' में ध्वनि का अन्तर्भाव करने का तृतीय संभावित विकल्प है—

'कस्याचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्'[3]

भक्ति, वक्ष्यमाण ध्वनि के अनेक भेदों में से किसी विशेष भेद का उपलक्षण हो सकती है। तब भी सम्पूर्ण ध्वनि का उपलक्षण तो नहीं होगी। यदि दुर्जनतोष न्याय से यह मानें कि 'भक्ति' (लक्षणा) से ध्वनि लक्षित हो सकती है। तब तो अभिधा व्यापार द्वारा ही समस्त अलंकार वर्ग भी लक्षित हो सकता है ऐसी स्थिति में पृथक्-पृथक् अलंकारों का लक्षण करने की आवश्यकता ही क्या है।[4]

यदि यह मानें कि पहले ही ध्वनि का लक्षण कर दिया गया है, तो इससे ध्वनि का ही पक्ष सिद्ध होता है—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।[5]

---

१. 'तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्त्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात।' पृ० ६२

२. ध्वन्यालोक पृ० ६५

३. ध्वन्यालोक, आ० वि० पृ० ६७

४. सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत। यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदाभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः⋯⋯पृ० ६७

५. ध्व० आ० वि० पृ० ६७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्योंकि 'ध्वनि' का लक्षण पहले ही किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि है। और 'ध्वनि' है "यह तो हमारा (ध्वनिवादियों) मत है ही। वह हमारा मत पहले से ही सिद्ध है अतः हम तो विना प्रयत्न ही सफल हो गये।"[1]

१. १२. ध्वनि की अनाख्ययता का निवारण—ध्वनि विरोधियों का अंतिम विकल्प है, ध्वनि के गिरागोचर होने का। ऐसे लोगों को आचार्य आनन्दवर्धन का उत्तर है कि—

'सहृदयों के हृदयों को आनन्द देने वाली ध्वनि अवर्णनीय (अनाख्येय) है—यह कथन भी परीक्षा करके कहा हुआ नहीं है।' क्योंकि उपर्युक्त रीति से ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण कर दिये जाने पर भी यदि उसे अनाख्येय ही कहा जायगा तो, ऐसी अनाख्येयता (तत्) का प्रसार तो सभी वस्तुओं में हो सकेगा।[2]

अर्थात् व्यंग्यार्थ का अस्तित्व सिद्ध कर दिया गया है, तथा व्यंग्यार्थ की प्रधानता का आख्यान कर ध्वनि की परिभाषा की गई है। लक्षणा से उसका भेद भी प्रतिपादित किया गया। इसके बाद भी यदि ध्वनि को गिरागोचर अनाख्येय ही कहा जाय, तो फिर संसार की कोई भी वस्तु अनाख्येय हो सकती है।

यदि अनाख्येय कहने से यह तात्पर्य है कि ध्वनि महान है, अन्य काव्यों में ध्वनि काव्य की श्रेष्ठता अवर्णनीय हैं। इस प्रकार 'अनाख्येयता' में अतिशयोक्ति द्वारा इसकी उत्कृष्टता प्रतिपाद्य है, तब तो ठीक ही है।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' को सिद्ध किया। पहले कहा जा चुका है कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता ध्वनि है—यहाँ उसी व्यंग्यार्थ का अस्तित्व स्थापन किया है। व्यंग्यार्थ, व्यञ्जना शक्ति द्वारा द्योत्य है, द्योत्य की सिद्धि 'द्योतक' (व्यञ्जना) की सिद्धि है। परन्तु आनन्दवर्धन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं। व्यंग्यार्थ तो हुआ पर व्यञ्जक की दृष्टि से भी ध्वनि (व्यञ्जना) सिद्ध करना शेष है, अतः अब उसी में प्रवृत्त होते हैं।

१. १३. व्यञ्जक के दृष्टिकोण से व्यञ्जना सिद्धि—तृतीय उद्योत में आचार्य ने, वर्ण, शब्द, शब्दांश, संघटना आदि का व्यंजकत्व प्रतिपादित कर ध्वनि के भेद प्रभेदों का प्रदर्शन किया है। व्यंजना विरोधी, इस प्रकार के व्यंजकत्व पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनके मतानुसार, व्यंग्य अर्थ का प्रकाशन ही पर्याप्त है, तब यह पृथक व्यंजकत्व क्या है ? (किमिद व्यंजकत्वं नाम) तथा जिस अर्थ का प्रतिपादन आचार्य आनंन्दवर्धन ने किया है, उसका व्यंजकत्व हो नहीं सकता (नहि व्यंजकत्वं

१. स च प्रागेव संसिद्ध इति, अयत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः सम्पन्नाः स्मः······पृ० ६७

२. यत उक्त······तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्········पृ० ६८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्यंग्यत्वं चार्थस्य) व्यंजक की सिद्धि पर व्यंग्य आधारित है और व्यंजकत्व की सिद्धि को व्यंग्य की अपेक्षा है। व्यंग्य ओर व्यंजक अन्योन्याश्रित हैं। अतः एक के प्रसिद्ध होने पर दूसरा भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्यों कि आनन्दवर्धन प्रतिपादित प्रतीयमान का प्रकाशन होता है। क्यों कि अर्थ का व्यंग्यत्व नहीं हो सकता, इसलिये व्यंग्य की सिद्धि ही नहीं हुई। व्यंग्य और व्यंजक, क्योंकि सापेक्ष हैं अतः व्यंजक भी स्थापित नहीं हुआ। इसलिए व्यंजना नहीं है। यह व्यंजना विरोधियों का एक और तर्क है।

परन्तु प्रथम उद्योत में वाच्य से अतिरिक्त व्यंग्य की स्थापना आचार्य आनंदवर्धन कर चुके हैं। विरोधियों का मत है कि इस वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ को 'व्यंग्यार्थ ही क्यों कहा जाय ?[1] जहाँ व्यंग्यार्थ कहा जाने वाला अर्थ प्रधानरूप से अवस्थित है, वहाँ उसे वाच्यार्थ कहना ही युक्तिसंगत है। क्योंकि वाक्य उस अर्थ के प्रति ही प्रयुक्त है।[2]

अतः उस अर्थ को प्रकाशन करने में वाक्य का अभिधा व्यापार ही है, तब इस अन्य (व्यंजना) व्यापार की कल्पना क्यों ?[3] क्योंकि तात्पर्य रूप जो अर्थ है, वह मुख्य होने से वाच्यार्थ ही है। इस मुख्य तात्पर्य रूप अर्थ के बीच में जो अन्य वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, वह उस मुख्य तात्पर्य रूप अर्थ की प्रतीति में उपाय मात्र है। जैसे वाक्यार्थ की प्रतीति में पदार्थ प्रतीति उपाय मात्र है वैसे ही तात्पर्य रूप अर्थ की प्रतीति के पूर्व प्रतीत होने वाला वाच्यार्थ उपाय मात्र है।[4]

इस प्रकार तात्पर्यवादी व्यंजना विरोधी तात्पर्य में ही व्यंग्यार्थ का पर्यवसान कर उसे वाच्यार्थ ही कहना चाहते हैं तथा व्यंग्य, व्यञ्जक और व्यञ्जना व्यापार का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार इस सब की आवश्यकता ही नहीं है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने, व्यञ्जनाविरोधियों की उपर्युक्त युक्तियों का खंडन कर व्यंजना की सिद्धि की है।

जहाँ शब्द अपने अर्थ को अभिधा से बोधन कराता हुआ अन्य अर्थ का भी बोध कराता है; वहाँ उसके स्वार्थाभिधायित्व (अपने अर्थ का अभिधा द्वारा बोधन में)

१. सत्यमेवैतत्। प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिकृता, स त्वर्थो व्यंग्यतयैव कस्मात् व्यपदिश्यते ? पृ० २५३

२. यत्र च प्राधान्येनावस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टु युक्तः। तत्परत्वाद् वाक्यस्य। पृ. २५३.

३. किन्तस्य व्यापारान्तरकल्पनया ?

४. या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं, पदार्थ पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः। पृ. २४५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और अर्थान्तर अवगमहेतुत्व (अन्य अर्थ का बोध कराने में) में अभेद माना जायगा या भेद, इन दोनों में अभेद तो माना नहीं जा सकता,[१] क्योंकि ये दोनों व्यापार भिन्न विषय और भिन्न रूप होते हैं। यथा शब्द का वाचकत्वरूप व्यापार शब्द के अपने अर्थ के विषय में होता है और गमकत्वरूप व्यापार अन्य अर्थ के विषय में। वाच्य और व्यंग्य के संबंध में 'स्व' और 'पर' के व्यवहार को भूला नहीं जा सकता।

वाच्यार्थ की प्रतीति साक्षात् संबंध से होती है, और व्यंग्यार्थ की प्रतीति परंपरया (संबंधि-सम्बन्ध) संबंध से।[२]

वाच्यार्थ, शब्द से साक्षात् संबंधित होता है और दूसरा अर्थ वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता है। इसीलिये इसे परंपरया संबंध संबंधित कहा गया है। यदि इस दूसरे अर्थ का शब्द से साक्षात् संबंध हो तो उसमें 'अन्य अर्थ' इस प्रकार के व्यवहार की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? अतः उन दोनों का विषय-भेद प्रसिद्ध है। आशय यह हुआ कि शब्द अपने अर्थ का बोध अभिधा व्यापार द्वारा कराता है। इस स्वअर्थ बोधन के साथ अन्य अर्थ का भी बोध कराता है। यह 'अन्य अर्थ' इसीलिये 'अन्य अर्थ' कहा जाता है क्योंकि यह शब्द का वाच्यार्थ नहीं होता। इसलिये वाच्यार्थ भिन्न अर्थ की सत्ता माननी ही होगी।

यहीं नहीं, वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप भेद भी है।[3] क्यों कि जो अभिधा-शक्ति है वही अवगमन (व्यञ्जक) शक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ गीतादि को ले सकते हैं। गीत शब्द अवाचक होते है—उनसे किसी अभिधार्थ की प्रतीति नहीं होती तथापि उनसे रसादिरूप अर्थ का अवगम होता है। अतः अभिधा का व्यापार नहीं होता, परन्तु अवगमन (व्यञ्जकत्व) व्यापार तो है ही इसलिये अभिधा व्यापार से पृथक व्यञ्जकत्व व्यापार स्वीकार करना चाहिये। गीतादि ही नहीं, शब्दरहित चेष्टाओं से भी विशेष अर्थ का प्रकाशन प्रसिद्ध है। चेष्टाओं में तो अभिधाव्यापार की गति ही नहीं है, तब चेष्टाओं से विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति में कौन सा व्यापार होगा ? व्यापार होना तो अनिवार्य ही है, इसलिये वह अवगमन रूप (व्यञ्जना) व्यापार ही स्वीकार्य है। निम्नलिखित श्लोक—

---

१. यत्र शब्दः स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा ? न तावदविशेषः। तृ. उ. पृ. २५४

२. न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यंग्ययोरपह्नोतुं शक्यः। एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेः अपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन। तृ. उ. पृ. २५५

३. रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य वाष्पं,
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥[1]

"गुरुजनों के समीप होने के कारण लज्जा से सिर झुकाये, कुचकलशों को कंपित करने वाले दुःखावेग को हृदय में ही दबा कर भी आँसू टपकाते हुए चकित हरिणी के समान हृदयाकर्षक नेत्रत्रिभाग जो मुझ पर फेंका, उसके द्वारा 'ठहरो, मत जाओ,' क्या यह नहीं कहा ?" में कवि ने चेष्टा विशेष से अर्थ का प्रकाशन दिखलाया ही है। परन्तु वाच्य अर्थ के लिये शब्द आवश्यक है। इसलिये शब्द का अभिधा द्वारा स्वार्थ बोधन और अन्य अर्थ का अवगम, भिन्न विषय और भिन्न रूप होने से पृथक ही हैं। उनका भेद स्पष्ट है।

क्योंकि इनमें भेद है, इसलिये अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यंग्य (अवगमनस्य) को वाच्य नहीं कहा जा सकता।[2]

आनन्दवर्धन उस व्यंग्य अर्थं को शब्द व्यापार का विषय (शब्दव्यापारगोचरत्वं) तो स्वीकार करते हैं। परन्तु वह (व्यंग्य अर्थं) वाचकत्व रूप में शब्द के व्यापार का विषय नहीं है, वरन् यह व्यापार व्यंग्य रूप से ही है।

प्रसिद्ध अभिधा के पश्चात् होने वाले संबन्ध की योग्यता से (प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्ध योग्यत्वेन) उस अर्थान्तिर की प्रतीति होने के कारण (च अर्थान्तिरस्य प्रतीतेः) और स्वार्थं का बोध कराने वाले (स्वार्थाभिधायिना) शब्द से भिन्न शब्द से (शब्दान्तरेण) जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसके विषय में 'प्रकाशन' कहना ही युक्तियुक्त है।[3]

तात्पर्यवादियों ने व्यञ्जना का निषेध करते हुए कहा है कि अन्य अर्थ की प्रतीति के बीच जो अर्थ प्रतीत होता है वह तो उपाय मात्र है और तात्पर्य रूप अन्य अर्थ की प्रतीति मे उसका वही स्थान है जो वाक्यार्थबोध में पदार्थबोध का है। वाक्यार्थबोध में पदार्थबोध उपाय मात्र ही है। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पदार्थ और वाक्यार्थ

१. ध्वन्यालोक, आ० वि० पृ. १६६

२. विशेषश्चेत्, न तर्हीदानीमवगमनस्य अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थान्तिरस्य वाच्यत्वव्यपदेशता।

३. प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तिरस्य प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव। पृ० २९६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्याय को आचार्य आनन्दवर्धन असंगत मानते हैं। तथा भट्टमत, न्याय आदि में भी इसकी स्थिति का निषेध बतलाते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार—

'वाच्य और व्यंग्य में पदार्थ—वाच्यार्थ न्याय नहीं बनता।'[१]

क्योंकि कतिपय विद्वानों द्वारा पदार्थ प्रतीति ही असत्य मानी गई है जिन विद्वानों की ओर आचार्य आनन्दवर्धन ने इस पंक्ति में संकेत किया है, वे वैयाकरण हैं। वैयाकरण, पद-पदार्थ भेद को स्वीकार नहीं करते। पद-प्रत्यय कल्पना बालबुद्धि वालों के लिये है। यह मार्ग ही वैयाकरणों के मतानुसार असत्य है। सत्य तक पहुँचने का मार्ग मात्र माना जा सकता है—इसीलिये वैयाकरण मत में—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥[२]

अतः वैयाकरणों को अखंडार्थतावादी भी कहा जाता है। यहाँ इस प्रकरण का प्रसंग यही है कि तात्पर्यवादी जिस वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित करते हैं, वैयाकरणों के मतानुसार वह न्याय बनता ही नहीं है।

जो इस पद-पदार्थ प्रतीति को असत्य नहीं मानते, उन नैयायिक आदि को पद-पदार्थ और पदार्थ-वाक्यार्थ में वही न्याय मानना होगा जो घट और उसके उपादान कारण में है। घट और उसके उपादान में नैयायिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं। समवाय सम्बन्ध वह है जिसमें कारण के विनष्ट होने पर कार्य भी विनष्ट हो जाता है।

घट के बन जाने पर उसके उपादान कारण की पृथक उपलब्धि नहीं होती वैसे ही वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद पदार्थ प्रतीति अथवा पदार्थ प्रतीति के बाद पद प्रतीति नहीं होती।[३] यदि इनकी पृथक रूप से प्रतीति मानी जाय तो वाक्यार्थ बुद्धि नहीं रहेगी। अतः वाच्य और व्यंग्य में यह पद पदार्थ न्याय संगत नहीं है।[४] वाक्यार्थ की प्रतीति के समय पृथक-पृथक पद-पदार्थादि की प्रतीति नहीं रहती; परन्तु वाच्य और व्यंग्य के प्रसंग में, व्यंग्यार्थ की प्रतीति के समय वाच्य बुद्धि दूर नहीं होती। वाच्य की छाया से अविनाभाव से संबंधित व्यंग्यार्थ प्रकाशित होता है।[५] वाच्य के बिना

---

१. न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यंग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद विद्वद्भिरास्थितम्।
२. ध्वन्यालोक आ० वि० तृ० उ० पृ० २५६
३. तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम् पृ० २५७
४. न त्वेष वाच्यव्यंग्ययोर्न्यायः पृ. २५७।
५. न हि व्यंग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरी भवति। वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्यंग्यार्थ की प्रतीति ही नहीं होगी, अतः वाच्यबुद्धि का रहना आवश्यक है, पर वाक्यार्थ ज्ञान के समय पद-पदार्थ प्रतीति नहीं रह सकती।

अतः निष्कर्ष यह हुआ कि तात्पर्यवादियों ने जो 'या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं, पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः।'[1] कहा था, संगत नहीं है। इस लिये शब्द की स्वार्थाभिव्यक्ति और अर्थान्तराभिव्यक्ति ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, तब प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यविषयीभूत अर्थ मानकर, वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता।

१.१४ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में घट-प्रदीप न्याय—यदि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कोई न्याय घटित होता है तो वह प्रदीप न्याय ही है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति उत्पन्न होने पर भी प्रदीप का प्रकाश निवर्तित नहीं होता, उसी प्रकार व्यंग्य की प्रतीति में भी वाच्यावभास रहता है।[2] प्रथम उद्योत में वाच्य और व्यंग्य का संबंध निरूपित करते हुए कहा गया था—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥ १॥
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥ २॥
स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते॥ ३॥

जैसे आलोक चाहने वाला मनुष्य, दीपशिखा में (आलोक का उपाय होने के कारण) यत्नवान् होता है, वैसे ही व्यंग्यार्थ में आदर वाला उसके उपायस्वरूप वाच्यार्थ में यत्नवान् होता है॥ १॥

जैसे पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है, वैसे प्रतीयमान वस्तु (अर्थ) की प्रतीति वाच्यार्थ पूर्वक होता है॥ २॥

पदार्थ अपने सामर्थ्य से वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हुए भी वाक्यार्थ की निष्पत्ति हो जाने पर पृथक भासित नहीं होता॥ ३॥

उपर्युक्त कारिका संख्या २ में जो पदार्थ और वाक्यार्थ की बात कही गई है, तब आनन्दवर्धन के अनुसार भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित हो रहा है फिर तात्पर्यवादी और आनन्दवर्धन की मान्यता में भेद कहाँ

१. 'ध्व'. पृ. २५४

२. तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः। यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः। पृ. २५१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हुआ ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि प्रथम उद्योत की इन कारिकाओं का लक्ष्य, उपाय का सादृश्यत्व मात्र बतलाना है,[1] वस्तुतः पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित करना नहीं। जैसे पदार्थ, वाक्यार्थ का उपाय है, वैसे वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का उपाय है, इतना ही उस कारिका 'यथा पदार्थद्वारेण....' आदि का आशय है। उससे पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय नहीं समझना चाहिये।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में आचार्य आनंदवर्धन ने घट-प्रदीप न्याय स्वीकार किया है। इससे पुनः एक शंका उठती है कि घटप्रदीप-न्याय में दीप और घट इन दो का एक साथ प्रकाशन होता है, इस न्याय को वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में घटित करने पर, वाक्य के दो अर्थ होने लगेंगे, क्योंकि दो अर्थ प्रकाशित होंगे। और इस प्रकार वाक्य की परिभाषा ही व्यर्थ हो जायगी क्योंकि वाक्य एकार्थत्व की प्रतीति कराने वाला ही होता है[2] (ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्)

इस शंका का समाधान भी आचार्य आनन्दवर्धन ने किया है। उनके मतानुसार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रसंग में यह दोष नहीं आता। क्योंकि वाच्य और व्यंग्य की स्थिति गौण और प्रधान आदि होती है। कहीं व्यंग्य अर्थ प्रधान और वाच्य उपसर्जनीभाव से स्थित होता है और कहीं वाच्य प्रधान होता है, व्यंग्यार्थ गौणरूप से रहता है।[3] जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, वही ध्वनि कही गयी है। अतः यह सिद्ध होता है कि वाक्य के व्यङ्ग्यनिष्ठ होने पर भी, व्यङ्ग्यार्थ, अभिधेय नहीं वरन् व्यंग्य ही होता है।[4] आशय यह हुआ कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में भी वाच्यार्थ की उपस्थिति तो रहेगी ही, यही वाच्यार्थ अभिधेय है, वाच्यार्थ रूप उपाय से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं है। उसे व्यंग्य ही मानना होगा।

१.१५ व्यंग्यार्थ के वाच्यत्व के निषेध का एक और तर्क--जहाँ शब्द व्यंग्यार्थनिष्ठ नहीं होता, व्यंग्यार्थ गुणीभूत होता है, वहाँ व्यञ्जना विरोधी भी उस गुणीभूत व्यंग्य को वाच्यार्थ तो नहीं मानेंगे। परन्तु इस गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति यह सिद्ध करती है कि शब्द का कोई व्यंग्य अर्थ भी होता है।[5] और जब व्यंग्यार्थ के

---

१. 'तदुपायत्वमात्रात् साम्यविवक्षया' ... ...पृ. २५७

२. नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं, तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते। तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्। ... ... पृ. २५८

३ नैष दोषः गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यंग्यस्य हि क्वचित् प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनाभावः। क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः, तत्तु व्यंग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव। ... पृ. २५८

४. व्यंग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यंग्यस्याभिधेयत्वमपितु व्यङ्ग्यत्वमेव। पृ. २५८

५. तदस्ति तावद् व्यङ्ग्यः शब्दानां कश्चिद् विषय इति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गुणीभूतत्व को स्वीकार करते हैं, तो जहाँ उसका प्राधान्य होता है, वहाँ उसे अस्वीकार कैसे किया जा सकता है। इस लिए व्यञ्जकत्व को वाचकत्व से पृथक् ही मानना होगा।

१.१६ आश्रयभेद से व्यञ्जकत्व की प्रामाणिकता--वाचकत्व का आश्रय शब्द ही होता है, शब्द से भिन्न अभिधेयार्थ का प्रतिपादन संभव ही नहीं है। परन्तु व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द भी है और अर्थ भी। अतः व्यञ्जकत्व केवल शब्द का ही नहीं होता अर्थ का भी होता है। जहाँ एक अर्थ अन्य अर्थ की व्यञ्जना करे वहां अर्थ में व्यञ्जकत्व है। इसलिये आश्रय के भेद से भी व्यञ्जकत्व का भेद प्रमाणित होता है—

'इतश्च वाचकत्वाद् व्यञ्जकत्वस्यान्यत्वं, यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्'।

अतः अभिधाशक्ति और तात्पर्यशक्ति से भिन्न व्यञ्जकत्व व्यापार रूप व्यञ्जना शक्ति है

१.१७ लक्षकत्व और व्यञ्जकत्व भेद प्रकरण—मुख्यार्थ बाधित होने पर, सादृश्येतर संबंध से (लक्षणा) अथवा सादृश्य संबंध से शब्द अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है। सादृश्य संबंध पर आधारित को गुणवृत्ति कहते हैं और सादृश्येतर पर आधारित को लक्षण कहते हैं। पूर्व प्रकरण में वाचकत्व और व्यञ्जकत्व में भेद बतलाते हुए वाच्यत्व की शब्दाश्रयता और व्यञ्जकत्व के शब्दार्थाश्रयत्व का प्रतिपादन किया था। जैसे व्यञ्जकत्व शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित है, वैसे ही लक्षणा अथवा गुणवृत्ति भी शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित है, तब लक्षकत्व में ही व्यञ्जकत्व को भी क्यों न मान लिया जाय, उसके पृथक प्रतिपादन की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिये ही आचार्य आनंदवर्धन ने इस प्रसंग को प्रारंभ किया है। गुणवृत्ति में व्यंजकत्व का अंतर्भाव करने वालों का मत है कि वह (गुणवृत्ति) भी उपचार और लक्षणा से दोनों (शब्द और अर्थ) में आश्रित होती है; इसे स्वीकार करते हुए भी आचार्य आनंदवर्धन गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में स्वरूपगत और विषयगत भेद मानते हैं।

(१) स्वरूप भेद—गुणवृत्ति को सभी अमुख्य शब्द व्यापार मानते हैं, इसी लिये गुणवृत्ति कहा भी जाता है, परन्तु व्यंजकत्व, शब्द का मुख्यतया अर्थव्यापार है। तीन प्रकार का व्यंग्य कहा गया है—रस, अलंकार और वस्तु। इन तीनों

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थों की प्रतीति, किसी भी प्रकार वाच्यार्थ (अर्थात्) से अमुख्य रूप में नहीं दिखाई पड़ती ।[१]

द्वितीय बात यह भी है कि अमुख्यरूप में स्थित वाचकत्व ही गुणवृत्ति है और व्यञ्जकत्व तो वाचकत्व से अत्यंत ही भिन्न है ।

तृतीय भेद यह भी है कि गुणवृत्ति में जब अर्थ अन्य अर्थ को लक्षित करता है तब लक्षणीय अर्थ के रूप में स्वयं को परिणत करके ही ऐसा करता है---यथा 'गंगायां घोषः' में गंगा पद स्वयं के अर्थ को छोड़कर लक्षणीय 'तट' रूप अर्थ में परिणत होकर 'तट' का ही बोधन करता है, इस स्थिति में इसको अपने अभिधेयार्थ का त्याग करना होता है । परन्तु व्यंजकत्व में इस प्रकार वाच्यार्थ को त्यागने की आवश्यकता नहीं होती । इस व्यंजकत्व रूप व्यापार में वाच्यार्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ का प्रकाशन करता है । जैसे दीपक स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही 'घट' को भी प्रकाशित करता है । उदाहरणार्थ यह श्लोक लें [२]---

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

[देवर्षि के ऐसा कहने पर (एवं वादिनि) पिता के पास बैठी (पार्श्वे पितुः) पार्वती नीचा मुख कर कमल के पत्ते गिनने लगी (पार्वती अधोमुखी लीलाकमल— पत्राणि गणयामास ।]

इस श्लोक में पहले वाच्यार्थ का बोध होता है---'कमलपत्र गिनना' आदि, तब इससे लज्जादि व्यंग्य की प्रतीति होती है ।

परन्तु उपादान लक्षणा (अजहत्स्वार्था) अथवा अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि में जहाँ शब्द अपने अर्थ को ग्रहण करता हुआ ही अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है वहाँ 'लक्षणा' का ही व्यवहार कहें, तो ऐसा करने पर लक्षणा ही मुख्य व्यापार होने लगेगा, क्योंकि प्रायः वाक्य, वाच्य से व्यतिरिक्त तात्पर्यरूप अर्थ के प्रकाशक होते ही हैं ।[३]

---

१. गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति, किन्तु ततोऽपि व्यंजकत्वं स्वरूपतः विषयतश्च भिद्यते । स्वरूपभेदस्तावदयम्, यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा । व्यंजकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः । न ह्यर्थाद् व्यंग्यत्रय-प्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते । तृ. उ. पृ. २५९

२. व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत् । यथा 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ पृ. २६०

३. यस्मात् प्रायेण वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वम् ··· पृ. २६१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अभी 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' श्लोक का उदाहरण देकर यह कहा गया था कि वाच्यार्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अन्यार्थ (व्यंग्यार्थ) का प्रकाशक होता है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि—यह तो अर्थ का व्यञ्जकत्व हुआ, क्योंकि अर्थ ही प्रकाशक कहा जा रहा है, इस स्थिति में शब्द का व्यापार क्या होगा ?[1]

इसका समाधान यह है—कि प्रकरण आदि की सहायता से युक्त शब्द के सामर्थ्य से एक अर्थ अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है—अर्थ की यह व्यञ्जकत्व शक्ति शब्द के सामर्थ्य से ही है। इसलिये शब्द का व्यञ्जकत्व कहा जाता है। पुनः व्यञ्जकत्व में—अस्खलग्दतित्व, समयानुपयोगित्व, और पृथगवभासित्व का निषेध कैसे हो सकता है।[2] ये तीनों ही विशेषताएँ व्यञ्जकत्व को गुणवृत्ति से भिन्न सिद्ध करती हैं।

(क) अस्खलद्गतित्व—लक्षणा में शब्द स्वार्थ में स्खलद्गति होकर ही अन्य अर्थ लक्षित करता है। परन्तु, व्यञ्जकत्व में, शब्द स्खलद्गति नहीं होता।

(ख) समयानुपयोगित्व—लक्षणा में शब्द जिस अर्थ को लक्षित करता है वह किसी न किसी रूप में अभिधेयार्थ से सम्बद्ध ही होता है। इसलिये किसी न किसी अंश में संकेतग्रह भी होता ही है। परन्तु शब्द जिस अर्थ की व्यञ्जना करता है, उसमें किसी भी प्रकार संकेतग्रह नहीं होता, इसलिये शब्द के व्यञ्जकत्व में समया-नुपयोगित्व' कहा गया है। अर्थात् उसमें समय (संकेतग्रह) का अनुपयोगित्व होता है।

(ग) पृथगवभासित्व---गुणवृत्ति में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का अभेद अवभासित होता है। जैसे 'गंगायां घोषः' के मुख्यार्थ 'गंगा' और लक्ष्यार्थ 'तट' में होता है। परन्तु व्यंजना में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद होता है। वे दोनों पृथक अव-भासित होते हैं।

अतः गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में स्वरूप भेद है।

(२) **विषयभेद**---गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में विषय भेद भी है।[3] रसादि अलंकार और वस्तु, इस प्रकार से तीन प्रकार का व्यंजकत्व कहा गया है। इन तीनों में से रसादि को न तो कोई गुणवृत्ति कहता ही है, न कह ही सकता है। व्यंग्य अलंकार की प्रतीति की भी यही स्थिति है। वह भी गुणवृत्ति नहीं कही जा

---

१. ननु त्वत्पक्षेऽपि यद्यार्थो व्यंग्यत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदृशो व्यापारः ? . पृ. २६१

२. अस्खलद्गतित्वं, समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वञ्चेति त्रयं कथमपह्नुयते पृ. २६१

३. विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यंजकत्वयोः स्पष्ट एव । ... पृ. २६२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सकती। चारुत्व की प्रतीति के लिये वाच्यभिन्न रूप में जिसका प्रतिपादन इष्ट हो वह वस्तु व्यंग्य कहलाती है।[१]

ये सब गुणवृत्ति के विषय नहीं हैं। रूढि अथवा व्यवहार के अनुरोध से भी गौण अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है। जहाँ गुणवृत्ति का विषय होता है, वहाँ भी प्रयोजन रूप व्यंग्य के कारण ही। प्रयोजनवती लक्षणा में—व्यंग्य प्रयोजन के कारण ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है।[२] इसलिये गुणवृत्ति से व्यंजकत्व अत्यन्त विलक्षण है। परन्तु वाचकत्व और गुणवृत्ति दोनों से भिन्न होते हुए भी व्यंजकत्व इन दोनों पर आश्रित भी है।[३] विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में व्यंजकत्व अभिधा के आश्रित होता है और कहीं अविवक्षितवाच्यध्वनि में वह गुणवृत्ति के आश्रय से स्थित होता है।

वाच्यत्व और गुणवृत्ति इन दोनों पर आश्रित होने के कारण ही ध्वनि के सर्वप्रथम दो भेद किये गये हैं—

(१) विवक्षितान्यपरवाच्य, (२) अविवक्षितान्यपरवाच्य

यही कारण है कि ध्वनि और गुणवृत्ति को एकरूप नहीं कहा जा सकता।[४] कहीं व्यंजकत्व, वाचकत्व के आश्रित होता है, इसलिये उसे गुणवृत्ति नहीं कहा जा सकता और कहीं वह गुणवृत्ति के आश्रित होता है, इसलिये वह वाचकत्व से भिन्न है। वाचकत्व और लक्षणा आदि से रहित शब्दों से भी व्यंजकत्व होता है, इसलिये भी वाचकत्व और गुणवृत्ति से पृथक ही व्यंजकत्व है।[५] उदाहरण के लिये गीतादि ले सकते हैं—इनसे रसप्रतीति व्यंजकत्व के आधार पर ही होती है। गीतादि में 'रस' न तो वाचकत्व से प्रतीत होते हैं, न लक्षणा से ही। शब्द से अन्यत्र भी (कटाक्षादि) व्यंजकत्व का दर्शन होने से उससे शब्द के वाचकत्व, गुणवृत्ति आदि धर्मों में से एक कहना अनुपयुक्त है। यदि वाचकत्व, गुणवृत्ति आदि से इस प्रकार

---

१. यतो व्यंजकत्वस्य रसादयः, अलंकारविशेषा, व्यंग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु, चेति त्रयं विषयः'। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम्। व्यंग्यालंकारप्रतीतिरपि तथैव। वस्तुचारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत् प्रतिपादयितुमिष्यते तद व्यंग्यम् तच्च न सर्वं गुणवृत्तेर्विषयः। पृ. २६२

२. यद्यपि च गुणवृत्तेर्विषयस्तदापि च व्यंजकत्वानुप्रवेशेन। पृ. २६२

३. वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रितत्वेन व्यवस्थानम् ,, ,,

४. एकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम् पृ. २६४

५. यावद्वाचकत्वलक्षणादिरहितशब्दधर्मत्वेनापि। ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विलक्षण होने पर भी, व्यंजकत्व को गुणवृत्ति के प्रकार (भेद) रूप से ही स्वीकार करना है तो उसे शब्द का ही विशेष प्रकार मान लेने में क्या हानि है।[1]

इसीलिये शब्द व्यवहार के तीन प्रकार कहे गये हैं—(१) वाचकत्व (२) गुणवृत्ति तथा (३) व्यंजकत्व। और व्यंजकत्व भेद में व्यंग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनि व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार गुणवृत्ति से व्यंजकत्व का पार्थक्य सिद्ध हुआ। पुनः एक शंका और होती है। अभिधाभूलक अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य में गुणवृत्ति का व्यवहार नहीं होता, यह तो सिद्ध हुआ, क्योंकि जहाँ वाच्यवाचक की प्रतीतिपूर्वक अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वहाँ गुणवृत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में व्यंजकत्व व्यवहार युक्तिसंगत भी है। क्योंकि व्यंजक की परिभाषा है—

'स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यंजक इत्युच्यते'[2]

और वाच्यार्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अर्थान्तर का प्रकाश करता है। इसलिये ऐसे विषय में गुणवृत्ति का व्यवहार नहीं किया जा सकता—

'तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यंजकत्वमिति गुणवृत्तिव्यवहारो नियमेनैव न शक्यते कर्तुम्।'[3]

परन्तु अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अत्यंततिरस्कृत और अर्थान्तरसंक्रमित भेदों में गुणवृत्ति के दोनों भेद, उपचार और लक्षणा की प्रवृत्ति स्पष्ट है अतः उन्हें तो गुणवृत्ति कहा जा सकता है। अर्थान्तरसंक्रमित में उपादान लक्षणा और अत्यंततिरस्कृतवाच्य में लक्षणलक्षणा का स्वरूप है।

इस शंका को आचार्य आनंदवर्धन उपयुक्त नहीं मानते, क्योंकि अविवक्षितवाच्य ध्वनि, गुणवृत्ति पर आश्रित होते हुए भी, गुणवृत्ति स्वरूप नहीं है (न तु गुणवृत्ति रूप एव)। जहाँ व्यंजकत्व नहीं होता वहाँ भी गुणवृत्ति होती है। जहाँ जहाँ गुणवृत्ति हो वहाँ-वहाँ ध्वनि भी हो ऐसा नहीं है। परन्तु चारुत्व के हेतुभूत व्यंग्य के अभाव में व्यंजकत्व नहीं होता। इसलिये अविवक्षितवाच्य से भी गुणवृत्ति का एकत्व प्रतिपादित नहीं होता। गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में एक और भी भेद है। अभेदोपचाररूप गुणवृत्ति वाच्यधर्म के आश्रय से और व्यंग्य के आश्रय से, इसप्रकार दो प्रकार की हो सकती है! प्रथम प्रकार को रूढि और द्वितीय को प्रयोजनवती कहते हैं। इस प्रकार की गुणवृत्ति के उदाहरण हैं 'अग्निर्माणवकः' बालक की तीक्ष्णता, तेजस्वितादि धर्मयुक्त

१. यदि च वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारविलक्षणत्वेऽपि व्यंजकत्वप्रकारत्वेन परिकल्प्यते तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते। पृ. २६४

२. ध्व० आ० वि० पृ. २६६

३. ,, ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होने से कहा जाता है। 'आल्हादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखम् तथा 'प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्' आदि गौणी लक्षण। के उदाहरण हैं। क्यों कि इनमें सादृश्य-संबंध आधार-भूत है। ये जो 'तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः, उदाहरण है—यह व्यंग्याश्रित गुणवृत्ति का उदाहरण होना चाहिये क्योंकि इस कथन का प्रयोजन बालक का तीक्ष्णत्व बतलाना है। परन्तु यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'तीक्ष्णत्व' तो वाच्यतया ही कथित है, अतः वह व्यंग्य नहीं हो सकता इसलिये, इस उदाहरण को भी वाच्याश्रित अभेदोपचाररूप गौणी लक्षणा का ही मानना चाहिये।

लक्षणारूपा गुणवृत्ति भी लक्षणीय अर्थ के संबंध मात्र के आश्रय से चारुत्वरूप व्यंग्य प्रतीति के विना भी, हो सकती है। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' लक्षणारूप गुणवृत्ति का उदाहरण है, क्यों कि मञ्च अचेतन है अतः वह चिल्ला नहीं सकते, इसलिये 'मंञ्चाः' से 'मंचस्थित पुरुष' यह लक्ष्यार्थ गृहीत होता है। इस उदाहरण में कोई व्यग्य प्रयोजन नहीं है। अतः लक्षणारूपा गुणवृत्ति व्यंग्य के बिना भी संभव है।

प्रयोजनवती लक्षणा में तो व्यंग्य के कारण ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। परन्तु, कुछ उदाहरणों में असंभव अर्थ से व्यवहार होता है, जैसे—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

यहाँ असंभव अर्थ है, क्योंकि 'पृथिवी' सुवर्णपुष्पा नहीं होती यह जो आरोप है, उसका हेतु, व्यंग्य की प्रतीति है। चारुत्वरूप व्यंग्य की प्रतीति के लिये ही यह गुणवृत्ति रूप व्यवहार किया गया है।

इसलिये अविवक्षित वाच्य ध्वनि में व्यंजकत्वविशेष सहित गुणवृत्ति सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाली होती है। गुणवृत्ति और व्यंजकत्व एक नहीं है। क्योंकि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का हेतु गुणवृत्ति नहीं है। अन्य स्थलों पर गुणवृत्ति व्यंजकत्व से रहित होती है।[1]

यह निर्विवाद है कि शब्द का व्यञ्जकत्व रूप धर्म प्रसिद्ध सम्बन्ध अर्थात् वाचकत्व के अनुरोध से स्थित रहता है। वाच्य-वाचक भाव का आश्रय लेता हुआ व्यञ्जकत्व व्यापार अन्य सामग्री के सम्बन्ध से प्रवृत्त होता है। शब्द का यह व्यञ्जकत्व व्यापार औपाधिक है।[2]

---

१. तस्मादविवक्षितवाच्ये ध्वनौ, द्वयोरपि प्रभेदयोर्व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनो। प्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वाद्। विषयान्तरे तद्रूपशून्याया दर्शनात्।···ध्व० आ० वि० पृ. २६९

२. शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुसन्धान एव व्यंजकत्व-लक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तर सम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाचकत्व से इसका एक और भी भेद है। वाचकत्व, शब्द विशेष का निश्चित धर्म है। व्युत्पत्तिकाल से प्रारम्भ होकर—यह वाचकत्व, शब्द के साथ अविनाभाव से स्थित रहता है। व्यञ्जकत्व, औपाधिक होने से अनियत है, प्रकरणादि के विवेचन से उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं होती।[1]

परन्तु व्यञ्जकत्व को शब्द का अनियत धर्म मानने से उसका स्वरूप क्या होगा? और इसकी परीक्षा से भी क्या लाभ है? वह मात्र औपाधिक अर्थात् आरोपित काल्पनिक व्यापार ही है। इसका समाधान यह है कि—व्यञ्जकत्व स्वयं में औपाधिक व्यापार नहीं है, उसका स्वरूप भी निश्चित है, प्रतीति भी प्रमाणसिद्ध है, परन्तु जहाँ तक व्यञ्जकत्व का शब्द से सम्बन्ध है, वह, वैसा नियत नहीं है, जैसा वाचकत्व है। वाचकत्व विना किसी अन्य सहायता के स्वतः प्रवृत्त होता है, परन्तु व्यञ्जकत्व की प्रवृत्ति हेतु प्रकरणादि का विमर्श आवश्यक है। इस दृष्टि से ही, शब्द के व्यापार रूप में ही व्यञ्जकत्व को औपाधिक कहा है, उसका स्वयं का स्वरूप औपाधिक नहीं है।[2]

इस समस्या को लिङ्गत्व न्याय से भी समझा जा सकता है। अनुमान प्रक्रिया में 'लिङ्ग' के द्वारा साध्य का अनुमान किया जाता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' उदाहरण वाक्य में पर्वत पक्ष कहलाता है, 'अग्नि' साध्य है, और धूम लिग है। 'धूम' रूप लिङ्ग को देखकर पक्ष (पर्वत) में निहित साध्य (अग्नि) का ज्ञान होता है। परन्तु, 'धूम', 'पर्वत' और अग्नि में क्रमशः 'लिंग', 'पक्ष' और 'साध्य' का व्यवहार तभी किया जाता है जब अनुमित्सा अर्थात् अनुमान करने की इच्छा हो। रसोई में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती अग्नि में अनुमान की इच्छा ही नहीं होती। इसलिये, जैसे 'धूम' का लिङ्गत्व अनुमान करने वाले की इच्छा पर निर्भर है, वैसे ही शब्द का व्यंजकत्व प्रयोक्ता की इच्छा पर निर्भर है। यह व्यंजकत्व और लिंगत्व का साम्य है। जिस प्रकार 'धूम' रूप लिंग से साध्य का अनुमान करने में व्याप्ति आदि की अपेक्षा होती है और उसके अभाव में अनुमान ही नहीं हो सकता है, वैसे ही व्यंजकत्व में प्रकरणादि अन्य सामग्री की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में व्यंजकत्व प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। यह भी व्यंजकत्व और लिंगत्व का साम्य है। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि नैयायिकों का लिंगत्व औपाधिक नहीं है, वरन्—'स्वाभाविक

---

१. वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा, व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियतः, औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः। ध्व० आ० वि० पृ० २७०

२. ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे।.................ध्व० आ० वि० पृ० २७१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

साहचर्य का नियम है' और व्यंजकत्व शब्द का औपाधिक धर्म, इसलिये व्यंजकत्व में लिंगत्व न्याय की आंशिक व्याप्ति ही है, पूर्ण नहीं। साम्य इतना ही है कि जैसे आश्रय में लिंगत्व, अनुमान की इच्छा के अधीन है—और इसीलिये अनियतरूप है, वैसे ही, व्यंजकत्व शब्द में अनियत रूप है और प्रयोक्ता की इच्छा के अधीन है। जैसे लिंगत्व अपने स्वरूप में नियत है, वैसे ही व्यंजकत्व भी अपने रूप में नियत ही है।[1] अतः व्यंजकत्व, वाचकत्व का प्रकार नहीं है, यदि वैसा होता तो शब्द में नियत भी होता[2] मीमांसक, शब्द और अर्थ में नित्य संबंध मानते हैं। आचार्य आनंदवर्धन ने मीमांसकों के मत में भी व्यंजकत्वरूप औपाधिक शब्द धर्म का प्रतिपादन आवश्यक सिद्ध किया है। मीमांसादर्शन में कहा गया है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः', इस सूत्र की व्याख्या में शबर स्वामी ने लिखा[3] है—'औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः' अर्थात् 'औत्पत्तिक' का आशय 'नित्य' है। मीमांसकों के इस मत के अनुसार शब्द का कोई औपाधिक धर्म हो ही नहीं सकता। अतः इस दृष्टिकोण से व्यंजकत्व भी संभव नहीं है।

मीमांसकों के अनुसार वाक्य दो प्रकार के हैं, एक अपौरुषेय, यथा वेद, इनके प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपौरुषेय होने से इनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। इसके लिये मीमांसक 'स्वतः प्रामाण्य' शब्द का प्रयोग करते हैं; जहाँ ज्ञान का जिससे ग्रहण होता हो, उसीसे ज्ञान के प्रामाण्य भी ग्रहण हों, वह स्वतः प्रामाण्य कहलाता है। 'वेद' स्वयं अपना प्रमाण है। द्वितीय प्रकार के वाक्य हैं, लौकिक—इन्हें पौरुषेय कहते हैं—इनके प्रामाण्य की अपेक्षा होती है। वक्ता के प्रामाण्य से इन वाक्यों का प्रामाण्य ग्रहण होता है—इसलिये ज्ञान ग्राहक सामग्री (वाक्य) और ज्ञान का प्रामाण्य ग्राहक सामग्री (वक्ता का प्रामाण्य) पृथक्-पृथक् होने से यह परतः प्रामाण्य कहलाते हैं।

पुरुष द्वारा निर्मित वाक्य में, पुरुष के भ्रम, प्रमादादि दोषों के कारण अप्रामाण्य आ जाता है। इसलिये उनके प्रामाण्य की अपेक्षा है।

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं—परन्तु इन शब्दों का समूहरूप वाक्य, जो कि पौरुषेय है—पुरुषनिर्मित है, को अनित्य कहते हैं। शब्द तो नित्य है परन्तु

---

१. लिंगत्वन्यायश्चास्य व्यंजकभावस्य लक्ष्यते। यथा लिंगत्वमाश्रयेष्वनियतावभासम्, इच्छाधीनत्वात् स्वविषयाव्यभिचारि च तथैवेदं यथा दर्शितं व्यंजकत्वम्…पृ० २७२
२. यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद् वाचकत्ववत्…………पृ० २७२
३. ध्व० आ० वि० पृ० २७२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लौकिक पुरुष द्वारा निर्मित वाक्य अनित्य है। जब शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है तो वाक्य को कभी व्यर्थ नहीं होना चाहिये। और इस स्थिति में लौकिक वाक्य भी अपौरुषेय वाक्य के समान स्वतःप्रामाण्य होने चाहिये। परन्तु मीमांसक ऐसा नहीं मानते। यदि मीमांसकों के अनुसार लौकिक वाक्यों का अप्रामाण्य माना जाय तो, इसका प्रतिपादन वाच्यार्थ के आधार पर नहीं हो सकता। क्योंकि वाच्यार्थबोध की दृष्टि से अपौरुषेय और पौरुषेय दोनों ही प्रकार के वाक्य समान होंगे। इनका भेद तात्पर्य के आधार पर सम्भव है। तात्पर्य का अर्थ है, वाक्यनिर्माता पुरुष की इच्छा। पुरुष क्योंकि सर्वज्ञ नहीं है, इसलिये उसकी इच्छा में भी मिथ्यात्व आ जाता है। इस तात्पर्यार्थ को दृष्टि से ही पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों के प्रामाण्य में भेद है। परन्तु, तात्पर्यार्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं होती, क्योंकि तात्पर्यार्थ में शब्दों का संकेतग्रह नहीं होता। तात्पर्यार्थ की प्रतीति लक्षणा से भी नहीं हो सकती क्योंकि मुख्यार्थबाधादि का अभाव है। इसलिये इस तात्पर्यार्थ की प्रतीति के लिये पृथक वृत्ति व्यंजना स्वीकार करनी होगी। अतः मीमांसकों के मत में भी शब्द का औपाधिकधर्म 'व्यंजकत्व' मानना होगा। आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दों में—"शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानने वाले, वाक्य के तत्त्वज्ञाता पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में भेद का प्रतिपादन करने वाले, मीमांसकों को भी शब्द का यह व्यंजकत्व रूप औपाधिक धर्म मानना होगा। अन्यथा शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानने से, पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में समानता होगी। व्यंजकत्व को स्वीकार कर लेने पर पौरुषेय वाक्यों में, वाच्यवाचक भाव को विना छोड़े हुए ही, पुरुष की इच्छा के अनुसरण करने वाले व्यंजकत्व व्यापार युक्त वाक्यों की मिथ्यार्थता भी प्रतिपादित की जा सकती है।"[1]

संसार में ऐसे पदार्थ देखे जाते हैं, जो अपने स्वभाव का परित्याग किये विना ही अन्य सामग्री के सहयोग से औपाधिक व्यापार के द्वारा विपरीत प्रवृत्ति दिखलाते हैं। जैसे चंद्रमा का स्वभाव शीतल है, परन्तु प्रियाविरह से युक्त व्यक्ति के लिये वह संतापकारी हो जाता है। 'संतापकारित्व' चन्द्रमा का औपाधिक धर्म है जो 'प्रियाविरह' आदि सामाग्री के कारण है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का स्वाभाविक

१. स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाच्यतत्त्वविदा पौरुषेयापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः। तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्। तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्। ध्व० तृ० उ० [illegible] पृ० १२४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संबंध मानने पर प्रकरणादि के कारण शब्द का औपाधिक धर्म व्यंजकत्व, मीसांसकों को भी मानना होगा, तभी लौकिक वाक्यों का मिथ्यात्व प्रतिपादित हो सकेगा। पौरुषेय वाक्य पुरुष के अभिप्राय को ही कहते हैं, और यह अभिप्राय व्यंग्य ही हो सकता है। क्यों कि शब्दों का अभिप्राय में संकेतग्रह न होने से इनमें वाचक-वाच्य भाव संबंध नहीं होता।

परन्तु, वक्ता के अभिप्राय को व्यंग्य मानने से तो सभी लौकिक वाक्यों में 'ध्वनि' का व्यवहार होने लगेगा ? इसका समाधान करते हुए आचार्य आनंदवर्धन कहते हैं कि—'यह ठीक है कि अभिप्राय व्यंग्य होता है, परन्तु लौकिक वाक्यों में व्यंग्य, वाच्य के अविनाभूत रूप में स्थित होने के कारण वाचकत्व से भिन्न नही होता। व्यंग्य विवक्षित रूप में नहीं होता और जहाँ व्यंग्य विवक्षित रूप में नहीं है, वहां 'ध्ननि' का व्यवहार नहीं हो सकता। जहाँ व्यंग्य की प्रधानतया विवक्षा है, वहीं व्यंजकत्व ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक कहा जाता है—अन्यत्र अथवा सर्वत्र नहीं। इसलिये सभी लौकिक वाक्यों में 'ध्वनि' का व्यवहार नहीं किया जा सकता।

अत एव वाक्यतत्त्वविदों (मीमांसकों) के मतानुसार की व्यंजकत्व रूप शब्द व्यापार विरोधी नहीं, प्रत्युत अनुकूल ही है।[1]

यह 'व्यंजकत्व' वैयाकरणों के भी प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि—'अविद्यासंस्कार-रहित शब्द ब्रह्म को स्वीकार करने वाले विद्वान् वैयाकरणों के सिद्धान्त का आश्रय लेकर ही ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ है।' इसलिये वैयाकरणों से विरोध अविरोध का प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

शब्द और अर्थ के संबंध को कृत्रिम मानने वाले नैयायिकों के मत में शब्दों का अन्य अर्थों के प्रति व्यंजकत्व, दीपक आदि के प्रकाशकत्व के समान अनुभवसिद्ध ही है। नैयायिकों का शब्दों के वाचकत्व के विषय में मतभेद हो सकता है (वाचकत्व स्वाभाविक है अथवा संकेतकृत है, इस प्रकार का मतभेद) परन्तु वाचकत्व के पश्चात् होने वाले व्यंजकत्व के संबंध में मतभेद का अवसर नहीं है। क्योंकि व्यंजकत्व तो लोकप्रसिद्ध तथा अनुभूत है। नैयायिक 'आत्मा' जैसे अगोचर अर्थ में विप्रतिपत्तियाँ खड़ी कर सकते हैं, परन्तु 'नील' को नील ही कहेंगे, पीत नहीं, अतः प्रत्यक्ष में तर्क का अवसर नहीं आता। इसी प्रकार, वाचक शब्दों का, अवाचक

१. तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन तावद् व्यंजकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते··· ध्व० पृ० २७६
२. परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ध्व० पृ० २७६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्दरूप गीतादि ध्वनियों का व्यंजकत्व तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस प्रत्यक्षसिद्धि के विषय में तर्क का अवसर नहीं है। अतः 'व्यंजकत्व' का अपलाप नहीं किया जा सकता।[1]

विद्वानों की गोष्ठियों में शब्द से अनभिधेय, सुन्दर अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले अनेक प्रकार के वचन कहे जाते हैं—इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकेगा।

पूर्व प्रकरण में व्यंजकत्व और लिंगत्व में साम्य दिखलाया है, इससे एक और विप्रतिपत्ति उत्पन्न होती है। शब्दों के बोधकत्व का नाम ही व्यंजकत्व है और वह लिंगत्वरूप है। इससे जो व्यंग्य की प्रतीति होती है, वह लिंगी की प्रतीति के समान है—इसलिये व्यंजक और व्यंग्य भाव लिंग-लिंगी भाव ही है। पुनः वक्ता का अभिप्राय व्यंग्य है—यह ध्वनिवादी भी मानते हैं—परन्तु वक्ता का अभिप्राय अनुमेय होता है। अतः व्यंजना, अनुमिति के अन्तर्गत है। वह पृथक् से विवेचनीय नहीं है।

इसका उत्तर आचार्य आनन्दवर्धन ने दो प्रकार से दिया है—प्रथम यह कि अनुमिति रूप ही यदि व्यंजना मानी जाय तो भी वह अभिधा और गुणवृत्ति से तो पृथक् ही सिद्ध हुई। भले ही व्यंजकत्व, लिंगत्व रूप मानें पर प्रसिद्ध सम्बन्ध और लक्षकत्व से वह भिन्न है। इस उत्तर से यह सिद्ध हुआ कि व्यंजना पृथक है। यह प्रौढिवाद से उत्तर हुआ। अनभिमत बात को कुछ समय के लिये स्वीकार करके उत्तर देना प्रौढ़िवाद कहलाता है। द्वितीय उत्तर यह है कि वास्तव में व्यंजना, अनुमिति के अन्तर्गत नहीं हो सकती, क्योंकि व्यंजकत्व सर्वत्र लिङ्गत्वरूप नहीं होता और व्यंग्य की प्रतीति सर्वत्र लिंगी की प्रतीति के समान नहीं होती।[2] अपने मत को आचार्य आनन्दवर्धन ने इस प्रकार कहा है—

"शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है, एक अनुमेय और दूसरा प्रतिपाद्य। वक्ता के कहने की इच्छा अनुमेय है। यह इच्छा भी दो प्रकार की होती है—प्रथम शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और द्वितीय शब्द से अर्थ प्रकाशन की इच्छा। इनमें प्रथम शब्दव्यवहार का अंग नहीं है। इससे किसी प्रकार के अर्थ का ज्ञान न हो सकने से ही इसे शब्दव्यवहार में अनुपयोगी कहा है। अर्थप्रकाशनरूप इच्छा, शब्दबोधव्यवहार का अंग है। ये दोनों शब्दों का अनुमेय विषय हैं। विशेष प्रकार के शब्द को सुनकर शब्दस्वरूपप्रकाशन की इच्छा अथवा शब्द द्वारा अर्थ प्रकाशन की इच्छा का अनुमान होता है।

---

१. यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तर्केनापह्नूयते···पृ. २७७

२. न पुनरयं परमार्थो यद् व्यंजकत्वं लिंगत्वमेव सर्वत्र, व्यंग्यप्रतीतिश्च लिंगिप्रतीतिरेवेति। पृ० २७९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द के प्रयोक्ता की अर्थ प्रतिपादन की इच्छा का विषयीभूत अर्थ शब्द का प्रतिपाद्य विषय होता है। यह प्रतिपाद्य विषय भी वाच्य तथा व्यंग्य, दो प्रकार का होता है। कभी प्रयोक्ता वाचक शब्द से अर्थ को प्रकाशित करता है और कभी प्रयोजन विशेष के कारण वाचक शब्द से नहीं कहता। परन्तु, शब्द का यह दोनों प्रकार का प्रतिपाद्य अनुमेय रूप से प्रकाशित नहीं होता।

शब्द सुनकर अथ का विवक्षाविषयत्व तो अनुमेय हो सकता है परन्तु अर्थ का स्वरूप अनुमेय नहीं कहा जा सकता।[1]

वैशेषिक दर्शन में अनुमान में ही शब्द का भी अंतर्भाव कर दिया गया है। जैसे अनुमान प्रक्रिया में—व्याप्तिग्रहण, लिङ्गदर्शन, व्याप्तिस्मृति, तथा अनुमिति ये चार चरण हैं वैसे ही शब्द में—संकेतग्रह, पदज्ञान, पदार्थस्मृति के बाद शब्दबोध होता है। समानविधि होने से अतः शब्द भी अनुमान ही है। आचार्य आनंदवर्धन ने इस मान्यता का खंडन किया है।

व्यञ्जकत्व सदैव लिंगत्व रूप नहीं होता, दीपक आदि के प्रकाश में विना लिंगत्व के ही व्यञ्जकत्व दिखलाई पड़ता है[2]। इसी प्रकार प्रतिपाद्य विषय लिंगी की भाँति शब्द से संवन्धित नहीं है। जैसा कि कहा जा चुका है, वक्ता की विवक्षा लिंगी रूप में शब्दों से संबद्ध है। यदि प्रतिपाद्य विषय को लिङ्गी मानें तो उसमें लौकिक पुरुषों द्वारा की जाने वाली विप्रतिपत्तियों का अभाव होगा, क्योंकि अनुमेयार्थ निश्चित होता है, उसमें विप्रतिपत्तियों के लिये अवसर नहीं होता।[3] परन्तु प्रतिपाद्य विषय में विप्रतिपत्तियों का अवसर होता है अतः वह अनुमेयार्थ नहीं हो सकता। इसलिये व्यञ्जना—अनुमान नहीं हो सकती।

व्यञ्जना का अनुमान में अंतर्भाव करने की आकांक्षा वालों का एक और तर्क हो सकता है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य, अनुमान साध्य है। व्यंग्य अर्थ के सत्य-असत्य के निर्णय हेतु भी अतः अनुमान अपेक्षित होगा। इस प्रकार व्यंग्यार्थ भी अनुमान का विषय सिद्ध होता है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक दो मत—मीमांसक और नैयायिक-प्रसिद्ध हैं। मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः प्रामाण्य मानते हैं और अप्रामाण्य को परतः कहते हैं। नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य, दोंनों को ही परतः मानते हैं। परतः प्रामाण्य वह हैं जिसमें ज्ञान ग्राहक सामग्री और ज्ञान का प्रामाण्य ग्राहक सामग्री

---

१. विवक्षा विषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम् पृ. २८०

२. न च व्यञ्जकत्वं लिंगत्वरूपमेव, आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात् ...... पृ. २८२

३. प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिङ्गित्वे तदविषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैर्व्
क्रियमाणानामनवकाशः प्रसज्येतेति। ... ... पृ. २८३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पृथक-पृथक हो। नैयायिक मत में ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है। सर्व प्रथम 'अयं घटः' यह ज्ञान होता है, तदनन्तर 'घट ज्ञानवान् अहम्' यह प्रतीति होती है—यहीं 'अनुव्यवसाय' है—व्यवसाय का अर्थ है 'ज्ञान'—'अयं घटः' इस ज्ञान से 'घट-ज्ञानवान् अहम्' यह प्रतीति होती है, ज्ञान के बाद होने के कारण इसे 'अनुव्यवसाय' कहा गया। अतः ज्ञान के ग्रहण की सामग्री यह 'अनुव्यवसाय' है। 'प्रामाण्य' का ग्रहण प्रवृत्तिसाफल्य अनुमान से होता है। ज्ञान के बाद प्रवृत्ति होती है। यदि यह प्रवृत्ति सफल होती है तो ज्ञान का प्रामाण्य ग्रहण होता है, यदि प्रवृत्ति विफल होती है तो ज्ञान का अप्रामाण्य होता है। इस प्रकार प्रामाण्य—अप्रामाण्य दोनों ही अनुमान साध्य हैं। व्यंग्यार्थ के प्रामाण्य अप्रामाण्य भी अनुमान साध्य होने से वह अनुमेयार्थ ही है।

इसका समाधान आचार्यवर्धन ने इस प्रकार किया है—प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में किसी भी साधन का उपयोग करें, चाहे मीमांसकों के ज्ञातता सिद्धान्त का अथवा नैयायिकों के 'अनुव्यवसाय' सिद्धान्त का परन्तु, शब्द के वाचकत्व रूप शब्द व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही व्यंग्यार्थ के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के निर्णय में किसी भी प्रमाण का उपयोग होने से, कोई हानि नहीं। इससे व्यञ्जकत्व व्यापार को पृथक शब्द व्यापार मानने में कोई बाधा नही पड़ती।[1]

पुनः लौकिक, तथा वैदिक वाक्यों में तो प्रामाण्य—अप्रामाण्य का प्रश्न महत्त्व-पूर्ण होता है, वहाँ प्रमाण के उपयोग का भी महत्त्व हो सकता है। परन्तु काव्य में व्यंग्यार्थ के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का प्रयोजन कुछ भी नहीं है, तब प्रमाण प्रयोगों की बात भी उपहासास्पद है। इसलिये सर्वत्र लिङ्गी प्रतीति ही व्यंग्यप्रतीति नहीं है।[2]

अतः निष्कर्ष रूप में गुणवृत्ति और वाचकत्व आदि से व्यञ्जकत्व भिन्न ही है।

इस प्रकार आचार्य आनंदवर्धन ने व्यञ्जकत्व व्यापार, पूर्व कथित सभी व्यापारों से पृथक सिद्ध किया। व्यंग्यार्थ के अस्तित्व का निर्विवाद प्रतिपादन प्रथम उद्योत में किया जा चुका है। व्यंग्य-व्यञ्जक की सिद्धि हो जाने पर इनका परस्पर

---

१. यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यकत्वप्रतीतौ क्वचित् क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिस्तद्वद् व्यंग्यस्यापि।...... पृ. २८५

२. काव्यविषये च व्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यंग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्। ध्व० आ० वि० पृ० २८५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संबंध स्थापित करने वाला व्यंजना व्यापार भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि यह प्रश्न उठता है कि व्यंग्य भी प्रमाणित हुआ और व्यंजक भी, तब ये किस संबंध द्वारा? अथवा कहें कि—व्यंजक किस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है? व्यंग्य और व्यंजक में व्यंजना शक्ति ही इस प्रतीति को अपना विषय बनाती है। अतः अब तक कही गई अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति से भिन्न व्यंजनावृत्ति स्वीकार करनी होगी। इस रूप में व्यंजना प्रतिपादन का श्रेय आचार्य आनंदवर्धन को ही है। इसका आधारभूत स्रोत वैयाकरणों का नाद और स्फोट का व्यंग्य-व्यंजक भाव है, तथापि व्यंग्य-व्यंजक भाव का पूर्ण पल्लवन ध्वन्यालोक में ही है।

—:❀:—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अध्याय २

आचाय आनन्दवर्धन के पश्चात् भी ध्वनि सिद्धान्त का विरोध हुआ। विरोध शृंखला में, भट्ट नायक, महिमभट्ट, आचार्य कुन्तक, धनञ्जय-धनिक आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों ने ध्वनि के आधारभूत व्यंग्य-व्यञ्जक भाव का ही निषेध किया। भट्ट नायक ने रस प्रतीति हेतु शब्द के दो नूतन व्यापार, भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना की तथा व्यञ्जना का निषेध किया। महिम भट्ट ने व्यञ्जना को अनुमिति के अन्तर्गत किया। कुन्तक ने वक्रोक्ति में ही ध्वनि का अन्तर्भाव माना और धनञ्जय-धनिक ने तात्पर्यवृत्ति का अत्यधिक विस्तार प्रतिपादित कर—सभी अर्थ उसके द्वारा ही निष्पन्न माने। यहाँ क्रमशः इन ध्वनि विरोधियों के मतों को प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. धनञ्जय-धनिक द्वारा व्यञ्जना का तात्पर्य शक्ति में पर्यवसान—धनञ्जय और धनिक ने 'दशरूपक' ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकाश में व्यञ्जना पर विचार करते हुए उसका पर्यवसान तात्पर्य वृत्ति में दिखलाया है। स्थायीभावों और रस को परिभाषित करने के उपरान्त ग्रन्थकार ने काव्य से इनके सम्बन्ध का विवेचन किया है।[1] संस्कृत विवेचन प्रणाली का अनुसरण करते हुए अपने मत की स्थापना के पूर्व, ध्वनिवादियों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है। अतः यहाँ उसी रूप में इस प्रसंग को दिया जा रहा है, जिस रूप में धनंजय और धनिक ने इसका विवेचन किया है।

२. १. पूर्वपक्ष का वाचन—रसादि वाच्य नहीं हैं, वे लक्ष्य भी नहीं हो सकते, उन्हें व्यंग्य भी नहीं कहा जा सकता, व्यञ्जना नामक कोई वृत्ति नहीं है। इस प्रकार धनंजय व्यंजना विरोधी हैं। काव्य और रस के पारस्परिक सम्बन्ध में व्यञ्जनावादियों का मत, धनंजय-धनिक ने इस प्रकार दिया है—

(क) न तावद्वाच्यवाचक भावः[2] अर्थात् काव्य और रस में परस्पर वाचक-वाच्य भाव नहीं है। काव्य, वाचक हो और रस उसका वाच्य हो, ऐसा सम्बन्ध, काव्य और रस में नहीं बनता। क्योंकि वे (रस) स्वशब्दों—रसादि अथवा शृंगारादि—से निवेदित नहीं होते। शृंगारादि रस पूर्ण काव्य में शृंगारादि अथवा रत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं दिखलाई पड़ता अतः शृंगारादि रसों का अभिधेयत्व नहीं बनता।

---

१. कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः ? 'दशरूपकम्' सं० डॉ० व्यास, पृष्ठ २३०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. दशरूपकम्.........पृष्ठ २३०

जहाँ कहीं भी देखा जाता है, विभावादि के द्वारा ही 'रसत्व' की सिद्धि होती है, केवल 'शृंगारादि' शब्दों के प्रयोग से 'रस' की स्थिति नहीं बनती।[1] वस्तुतः ध्वनिवादी विभावानुभावसंचारिमुखेन ही रस प्रतीति मानते हैं। विभावानुभाव के विधान से ही रस की प्रतीति सम्भव है। बाद में तो यहाँ तक काव्यशास्त्रियों की मान्यता स्थिर हुई कि रसादि का स्वशब्द से वाचन दोष माना गया। रस दोषों में आचार्य मम्मट ने—'रसस्थायिभावानां स्वशब्दवाच्यता' को सर्वप्रथम दोष कहा है। इसलिये काव्य वाचक और रस उसका वाच्य नहीं है—यह व्यंजनावादियों की मान्यता है।

(ख) नापि लक्ष्यलक्षक भावः[2] सामान्य का अभिधान कराने वाले लक्षक पद के प्रयोग द्वारा अजहल्लक्षणा द्वारा भी रस की प्रतीति नहीं होती।[3] काव्य लक्षक हो और रस उसका लक्ष्यार्थ, इस प्रकार का सम्बन्ध काव्य और रस में नहीं बन सकता।

'गंगायां घोषः', इस उदाहरण में गंगा शब्द का स्वार्थ है 'स्रोत', परन्तु स्रोत में ग्राम की स्थिति असम्भव होने से गंगा शब्द अपने स्वार्थ में स्खलद्गति है। और स्वार्थ के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध तट को लक्षित करता है। परन्तु, काव्य में 'नायकादि' शब्द अपने स्व अर्थ में स्खलद्गति नहीं है, तब वे अन्य अर्थ को लक्षित कसे करेंगे? इसका आशय है कि शब्द अपने अभिधार्थ में अनुपपन्न होने पर ही तो अन्य अर्थ का द्योतन करेगा। जब शब्द अपने स्व अर्थ में शब्द की गति नहीं होती, या कहें कि शब्द का अभिधार्थ उचित प्रतीत नहीं होता तो काव्यशास्त्रियों की भाषा में शब्द 'स्वार्थ' में स्खलद्गति कहा जाता है। काव्य में प्रयुक्त नायकादि शब्द अपने अभिधार्थ में स्खलद्गति नहीं होते तब वे अन्य अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ कैसे हो सकते हैं।[4] स्खलद्गति को ही मुख्यार्थबाध कहा जाता है। मुख्यार्थबाधादि के बिना लक्षणा प्रवृत्त नहीं होती। लक्षणा का प्रयोग किसी प्रयोजन से किया जाता है। निमित्त अथवा प्रयोजन के अभाव में भला 'उपचार' का प्रयोग कौन करेगा?[5]

---

१. नहि शृंगारादिरसेषु काव्येषु शृंगारादिशब्दा रत्यादिशब्दा व श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य नाभिधेयत्वं स्यात्, यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण।.........पृष्ठ २३०-२३१

२. दशरूपकम्.........पृष्ठ २३२

३. तत् सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्य प्रयोगात् नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः...........पृष्ठ २३२

४. यथा 'गंगायां घोषः' इत्यादौ तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यवस्थानासम्भवात्स्वार्थे स्खलद्गतिर्गंगाशब्दः स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षितं तटमुपलक्षयति। अत्र तु नायकादि शब्दाः स्वार्थेस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ?...दशरूपकम् सं० डॉ० व्यास, पृ० २३३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

५. को वा निमित्त प्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचारित प्रयुञ्जीत, दशरूपकम् पृ० २३३

['उपचार' के प्रयोग का निषेध कर धनंजय गौणी लक्षणा का भी निषेध कर रहे हैं। गौणी लक्षणा का आधार सादृश्य होता है।[1] दो अत्यधिक भिन्न पदार्थों में सादृश्यातिशय के कारण जब भेद का गोपन किया जाता है तो उसे 'उपचार' कहते हैं— उपचार का प्रयोजन अथवा निमित्त सादृश्यातिशय है। काव्य और रस में इस प्रकार का भी संबन्ध नहीं बनता अतः गौणी वृत्ति अथवा गौणी लक्षणा भी नहीं कही जा सकती।]

अतएव 'सिंहो माणवकः' आदि उदाहरणों के समान गौणी वृत्ति के द्वारा भी रस प्रतीति नहीं हो सकती।[2]

वाच्यरूप में 'रस प्रतीति' के खंडन का एक तर्क यह भी है कि वाच्यरूप में प्रतीत रस को तो वाच्य-वाचक भाव मात्र समझने वाले अरसिक को भी रस प्रतीति होनी चाहिये।[3] परन्तु व्यवहार से यह बात सिद्ध नहीं होती, केवल वाच्य-वाचक भाव जानने वाले अरसिकों को रस प्रतीति नहीं। सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने इसीलिए 'सहृदयत्व' की अनिवार्यता कही है। सहृदय को ही रस की प्रतीति होती है। क्योंकि केवल वाच्य-वाचक भाव समझने वालों को रसप्रतीति नहीं होती, इससे यही सिद्ध होता है कि रस वाच्य नहीं है।

रस प्रतीति को काल्पनिक[4] भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी सहृदयों को एक साथ रस प्रतीति होती है यदि रस काल्पनिक होता तो उसकी प्रतीति इन कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों को ही हो पाती, जिन्हें कवि कल्पित संकेतों का ज्ञान है। परन्तु ऐसा नहीं है, सभी सहृदयों को क्योंकि रस प्रतीति होती है अतः रस प्रतीति को काल्पनिक नहीं कहा जा सकता।

'साहित्यदर्पणकार' आचार्य विश्वनाथ ने भी प्रकारान्तर से रस के काल्पनिक माने जाने के मत को उद्धृत किया है, और उसका खंडन भी किया है, परन्तु कविराज विश्वनाथ ने 'कल्पना' के स्थान पर 'सूचन बुद्धि' का प्रयोग किया है—

'किञ्च, वस्त्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत् सूचनबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति'[5]

---

१. भेदाविमौ च साद्दश्यात् संबंधान्तरतस्तथा गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ। काव्य प्रकाश,
सं. आ. वि. पृ० ६२

२. अत एव 'सिंहो माणवकः' इत्यादिवत् गुणवृत्यापि नेयं प्रतीति⋯'दशरूपकम्'
सं. डॉ., व्यास., पृ० २३३

३. यदि वाच्यत्वेन रस प्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवल वाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्न चेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत्⋯⋯वही पृ० २३४

४. न च काल्पनिकत्वम्—अविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूतेः⋯वही पृ० २३५

५. दशरूपकम्, डॉ० व्यास—फुटनोट, पृ० २३५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(ग) व्यंजना द्वारा रस प्रतीति––रस, क्योंकि वाच्य नहीं है, लक्ष्य नहीं है, अतः कुछ लोग अभिधा, लक्षणा आदि से व्यतिरिक्त व्यंजकत्व स्वरूप वाले शब्द व्यापार के द्वारा रस, अलंकार और वस्तुरूप अर्थ प्रतीति की इच्छा करते हैं।[१] इसका आशय यह है कि रस, अलंकार और वस्तुरूप अर्थ को व्यंग्य मानते हैं।

रस प्रतीति विभावानुभावसंचारिमुखेन होती है, इस तथ्य के उदाहरण स्वरूप कुमारसंभव का यह श्लोक[२] उद्धृत किया गया है। शिव पर कामदेव ने शर सन्धान किया, पार्वती शिव के सामने स्थित हैं, तब जो पार्वती का स्वरूप है वही इस श्लोक में वर्णित है—

"चंचल बालकदम्ब के समान (स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः) अंगों के द्वारा (अङ्गैः) भावों को प्रकट करती हुई, इतस्ततः चंचल हुए नेत्रों से समायुक्त मुख वाली पार्वती भी टेढी होकर बैठी।"

इस श्लोक में पार्वती की शिवविषयक रति व्यक्त हो रही है, परन्तु श्लोक में कहीं भी, प्रकारान्तर से भी शृंगार अथवा रत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं है। पार्वती-रूप विभाव और उसके अनुभावों के द्वारा ही यहाँ रत्यादि की प्रतीति हो रही है।

यह बात केवल शृंगार रस के सन्दर्भ में ही नहीं, रसमात्र के विषय में सत्य है।[३] और रस ही नहीं, वस्तु और अलंकार के प्रतीयमान होने पर भी यही स्थिति होती है।[४] प्रतीयमान वस्तु अथवा प्रतीयमान अलंकार का वाचक कोई शब्द नहीं होता। प्रतीयमान वस्तु का उदाहरण 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः······' आदि प्रसिद्ध श्लोक लें। इस श्लोक का अर्थ है—

'हे धार्मिक निश्चिन्त भ्रमण करो, गोदावरी नदी के तटवर्ती कुंज में रहने वाले दृप्त सिंह ने, उस कुत्ते को मार डाला है।"

इस श्लोक का वाच्यार्थ है––'धार्मिक भ्रमण करो'––यह विधि रूप है। इसमें प्रतीयमान अर्थ है, 'मत भ्रमण करो, पहले कुत्ता ही था, अब क्रूरतर सिंह है।' परन्तु

१. अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यंजकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति············दशरूपकम्, सं० डॉ० व्यास पृ० २३५

२. विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

३. रसान्तरेषु अपि अयमेव न्यायः············दशरूपकम्, पृ० २३६

४. न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि·········दशरूपकम्, पृ० २३६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस निषेध रूप प्रतीयमान अर्थ का सूचक कोई शब्द श्लोक में प्रयुक्त नहीं है। अतः यह निषेधार्थ रूप वस्तु व्यंग्य है और इसकी प्रतीति व्यंजना द्वारा हो रही है।

प्रतीयमान अलंकार की व्यंग्यता का उदाहरण यह देखें—[1]

''लावण्य और कान्ति से समस्त दिशाओं को आपूरित करने वाले, तुम्हारे मुख को देखकर, हे दीर्घ और चंचल नेत्र वाली इस समुद्र में जो रंचमात्र भी क्षोभ नहीं हुआ इससे मैं मानता हूँ कि यह निश्चय ही जड़ है।''[2]

इत्यादि में, 'तन्वी का मुख चन्द्र तुल्य है' इत्यादि उपमालंकार की प्रतीति व्यंजना द्वारा ही गम्य है। इस प्रतीति को अर्थापत्ति जन्य नहीं मानना चाहिये क्योंकि यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा का अभाव है।[3]

(घ) व्यंग्यार्थ, वाक्यार्थ नहीं है व्यंग्यार्थ, वाक्यार्थ से भिन्न है, क्योंकि व्यंग्यार्थ तृतीय कक्षा का विषय है।[4] उदाहरण के लिये 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः···' आदि गाथा में, प्रथम कक्षा में अभिधा द्वारा 'भ्रम···धार्मिक' पदों का स्वतन्त्र अर्थ-वाच्यार्थ होता है। पुनः क्रिया-कारक आदि के संसर्ग से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है कि 'भ्रमण करो', तब इसके उपरांत तृतीय कक्षा में निषेध रूप अर्थ, जो व्यंजना शक्ति के अधीन है, वह स्फुटरूप से अवभासित होता है—अतः तृतीय कक्षा का विषय होने से व्यंग्यार्थ, वाक्यार्थ नहीं है।[5]

'विषं भुङ्क्ष···' इत्यादि निषेधार्थ विषय वाले वाक्यों में 'तात्पर्य वाक्यार्थ तृतीय कक्षा का विषय होता है', ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि इन वाक्यों में तृतीय कक्षा बनती ही नहीं। क्योंकि द्वितीय कक्षा में वाक्यार्थ की विश्रान्ति होने पर ही तृतीय कक्षा हो सकती है। परन्तु, इस 'विषं भुंक्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्था' निषेध वाक्य में वाक्यार्थ की विश्रान्ति द्वितीय कक्षा में होती ही नहीं। और द्वितीय कक्षा

---

१. भ्रमधार्मिक विश्रब्धः स श्वाऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकुंजकच्छवासिना दृप्तसिंहेन॥

२. लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षी।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधि॥

३. न चासावर्थापत्तिजन्या अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात्···दशरूपकम्, सं. डॉ. व्यास, पृष्ठ २३८

४. व्यंग्यस्य तृतीयकक्षाविषयत्वात्। ,, ,, पृ. २३९

५. 'भ्रम धार्मिक···' इत्यादि गाथा वाक्यों ,, ,, २३९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

की विश्रान्ति के बिना तृतीय कक्षा बन नहीं सकती, अतएव यहाँ तृतीय कक्षा का अभाव है।[1]

'विषं भुंक्ष्व…' आदि वाक्यों में पूरा तात्पर्य द्वितीय कक्षा का ही विषय है, परन्तु रसयुक्त वाक्यों में रस प्रतीति द्वितीय कक्षा में नहीं होती। द्वितीय कक्षा में तो केवल विभावों की प्रतीति होती है।[2] अतः रस प्रतीति तृतीय कक्षा का विषय है।

इसलिये सर्वत्र ही रस व्यंग्य है। वस्तुमात्र रूप अर्थ और अलंकार कहीं वाच्यत्व को भी और व्यंग्यत्व को प्राप्त होते हैं। जहाँ व्यंग्य की प्राधान्येन प्रतीति होती है, वहीं ध्वनि है।[3] जैसा ध्वनिकार ने कहा भी है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥

[अर्थात् जहाँ शब्द अपने अर्थ को और अर्थ स्वयं को उपसर्जन कर, उस (व्यंग्य) अर्थ को व्यक्त करते हैं, वह काव्यविशेष, विद्वानों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है। जहाँ अन्य वाक्यार्थ प्रधान होता है और रसादि उस वाक्यार्थ के अंग बन जाते हैं उस काव्य में 'रसादि' अलंकारवत् होते हैं, यह मेरी (ध्वनिकार) की मति है।] जैसे—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

इस श्लोक में चन्द्रोदय का वर्णन है। उदयकालीन लालिमा से युक्त चंद्र पूर्व दिशा में प्रकट हो रहा है। रक्ताभा को धारण किये हुए चंद्र ने, चंचल तारों से युक्त, रात्रि के तिमिरांशुक को इस प्रकार पकड़ा कि उसके राग के कारण रात्रि अपने समस्त फिसलते हुए वस्त्र को जान ही न सकी।

इसमें वाच्यार्थ चंद्र से संबंधित है और व्यंग्यार्थ नायक-नायिका के तद्वत् व्यवहार से संबंधित। डॉ० व्यास ने व्यंग्यार्थ इस प्रकार दिया है—

---

१. तन्न स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात् ,, २४०
२. रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात् ,, २४१
३. इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव। वस्त्वलंकारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिद् व्यंग्यत्वं, तत्रापि यत्र व्यंग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिः ,, २४१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"प्रेम को धारण करते हुए नायक (चंद्रमा) ने चंचल पुतलियों वाली नायिका (निशा) के मुख को इस प्रकार चूमा कि उस नायिका ने प्रेमावेश के कारण आगे से गिरते हुए, अपने समस्त वस्त्र को भी न जाना।[1]

इस उदाहरण में वाच्यार्थ ही प्रधान है, व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ का अंग हो गया है।

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) अविवक्षित वाच्य और (२) विवक्षितवाच्य। अविवक्षितवाच्य के पुनः (१) अत्यंत तिरस्कृतस्वार्थ और (२) अर्थान्तरसंक्रमित ये दो भेद हैं। विवक्षितवाच्य के (१) असंलक्ष्यक्रम और (२) संलक्ष्यक्रम दो भेद कहे गये हैं। इनमें रसादि, असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है। जब रसादि की प्राधान्येन प्रतीति नहीं होती, (यह अंग रूप में होता है) तब रसवदलंकार होता है।

इस प्रकार धनंजय-धनिक ने ध्वनिवादियों का मत पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया—अब वे इसके खण्डन में प्रवृत्त होते हैं।

२.२ धनंजय-धनिक का मत स्थापन—धनंजय-धनिक रस को व्यंग्य नहीं मानते और व्यंजना की कोई आवश्यकता नहीं समझते। उनके मतानुसार जैसे—

'प्रकरणादि के विमर्श से और कारकों की सहायता से साक्षात् अथवा बुद्धिस्थ क्रिया वाक्यार्थ होती है। ठीक वैसे ही विभावानुभाव संचारी द्वारा स्थायीभाव भी काव्य के वाक्यार्थ के रूप में प्रतीत होता है।[2]

इसका आशय यह है कि कतिपय वाक्यों में क्रिया का बोध कराने वाले शब्द साक्षात् उपात्त होते हैं। परन्तु कतिपय वाक्यों में ऐसी भी स्थिति होती है। क्रिया वाचक शब्द साक्षात् उपात्त नहीं होते। क्रिया का साक्षात् कथन नहीं होता वह 'बुद्धिस्थ' होती है। प्रथम प्रकार के वाक्य का उदाहरण है—'गामभ्याज'[3] इसमें 'अभ्याज' क्रिया है। द्वितीय प्रकार का वाक्य है, 'द्वारं द्वारं'[4] इसमें क्रियावाची कोई शब्द नहीं है। तब भी प्रकरण के अनुसार, द्वार खोलो' अथवा 'बन्द करो' यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रकरण के विमर्श से और कारकों की सहायता से क्रिया का ज्ञान हो जाता है और वही वाक्यार्थ होता है। इसी प्रकार विभावानुभावों के द्वारा स्थायी भाव भी काव्य के वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होता है। जैसे वाक्य में कहीं क्रियावाची शब्द उपात्त होते हैं, वैसे ही कहीं कहीं काव्य में भी स्थायी भाव

---

१. दशरूपकम्-सं डॉ व्यास…पृ० २४३.

२. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः॥ …दशरूपकम् पृ० २४५

३. दशरूपकम्, पृ. २४६

४. ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के सूचक शब्द उपात्त होते हैं, जैसे 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया···' आदि में 'प्रीत्यै' शब्द स्थायी भाव का सूचक है। कहीं, इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग नहीं होता और विभावानुभावादि के साथ अविभाव से संबंध स्थायीभाव सहृदय के चित्त में स्वतः स्फुरित हो जाता है। विभाव, अनुभाव आदि का काव्य में साक्षात् शब्दशः कथन होता ही है। ये संस्कार परम्परा से स्थापित भावों को पुष्ट करते हैं।[1] ये रत्यादि वाक्यार्थ रूप होते हैं।

पुनः प्रश्न यह उठता है कि अश्रूयमाण[2] (जिनका साक्षात् प्रयोग नहीं हुआ है) पदों के अर्थ को वाक्यार्थ कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि रसादि अर्थ वाक्य में प्रयुक्त पदों का वाच्यार्थ नहीं है और रसादि का वाचक कोई पद वाक्य में है नहीं, ऐसी स्थिति में अश्रूयमाण पदों के अर्थ में वाक्यार्थ की सम्भावना कैसे होगी? धनंजय धनिक का मत है कि यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिये, क्योंकि तात्पर्यशक्ति कार्यपर्यवसायि है।[3]

लौकिक और वैदिक सभी वाक्य प्रयोजननिष्ठ होते हैं। यदि वाक्य प्रयोजननिष्ठ न हों तो उन्मत्त के प्रलापवत् निरर्थक होंगे। तात्पर्यवृत्ति का प्रसार भी अतः कार्य अथवा प्रयोजन तक होगा। जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन होगा, वहाँ तक तात्पर्यवृत्ति का भी प्रसार माना जायेगा।

काव्य में प्रयुक्त शब्दों का और विभावादि का अन्वय-व्यतिरेकी संबंध है। यदि काव्य में इनके सूचक शब्द हैं, तो इनकी प्रतीति भी होगी। यदि विभावादि के सूचक शब्द नहीं है तो इनकी प्रतीति भी नहीं होगी। परन्तु, इन विभावादि में ही 'रस' नहीं है। ये तो प्रतिपादक मात्र हैं, इनका ही प्रतिपाद्य है 'निरतिशयसुखास्वाद रस'।

इस प्रकार धनंजय-धनिक ने विभावादि और रस में प्रतिपादक-प्रतिपाद्य भाव संबंध माना है।

जैसे वाक्य में पद होते हैं, वैसे ही काव्य में विभावादि हैं, तथा रस वाक्यर्थ स्थानीय है।[4]

काव्य में प्रयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति इसी हेतु है। अन्य किसी प्रयोजन की अनुपलब्धि के कारण आनन्दोद्भूति ही कार्य (प्रयोजन) रूप समझी जानी चाहिये।

१. रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः······दशरूपकम्, पृ. २४७

२. न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्······ वही पृ. २४७

३. कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः··········वही पृ. २४७

४. तत्रविभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः······वही पृ. २४८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यह आनंदोद्भूति विभावादि से संयुक्त स्थायी के द्वारा ही होती है। विभावादि के प्रतिपादन द्वारा तात्पर्यशक्ति रस की प्रतीति कराकर पर्यवसित होती है।[1]

काव्य, वाक्य है! विभाव पदार्थ है, और स्थायीभाव वाक्यार्थ है। रस तथा विभावादि में धनञ्जय-धनिक, भाव्य-भावक संबंध भी कहते हैं।[2] काव्य में प्रयुक्त विभावादि से युक्त स्थायीभाव की पर्यालोचना ही सहृदय को आनन्द प्रदान करती है। इस प्रक्रिया की डॉ० भोलाशंकर व्यास ने हिन्दी व्याख्या इस प्रकार की है—

'अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्था '......आदि।

'काव्य प्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादक शक्ति (तात्पर्यशक्ति) काव्य के प्रतिपाद्य तत्तत् रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्य रूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने को बाध्य करता है, इसलिये वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य शक्ति को रसरूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्य साधनों की आवश्यकता होती है।'[3]

इसका आशय यह हुआ कि प्रतिपाद्य रस, तात्पर्य शक्ति को क्रियमाण करता है और प्रतिपादक शक्ति (तात्पर्य शक्ति) को अपने रस-कार्य संपादन (रस प्रतीति रूप) में विभावादि की सहायता की अपेक्षा होती है।

धनिक ने 'काव्यनिर्णय' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। उसमें भी धनिक ने व्यञ्जना का खंडन किया था, यह प्रमाण उस ग्रन्थ के इस प्रसंग में उद्धृत श्लोकों से मिलता है। वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। कारिकाएँ दशरूपक में दी गई हैं उनमें तात्पर्य वृत्ति की व्यापकता दिखलाई गई है। व्यञ्जना का निषेध किया गया है। ये कारिकाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १ ॥

यह कारिका व्यञ्जनावादियों की ओर से है। प्रथम चरण में व्यञ्जनावादी, तात्पर्य में ध्वनि का समावेश करने वाले व्यञ्जनाविरोधियों का मत उद्धृत करते हैं, और द्वितीय चरण में प्रतिप्रश्न पूछते हैं—

व्यंग्य का (व्यञ्जनीयस्य) तात्पर्य में समावेश होने से (तात्पर्यानतिरेकाच्च), ध्वनि नहीं है (न ध्वनिः)

यह तात्पर्यवादियों का मत है। इस पर व्यञ्जनावादी प्रतिप्रश्न पूछते हैं, यदि ऐसा है तो—

१. तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते...वही, पृ० २४८
२. काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः... ... वही पृ. २५२
३. दशरूपकम्... ... ...पृ. २४८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'अन्योक्ति आदि में अश्रूयमाण पदार्थों में तात्पर्य कैसे माना जायगा, क्योंकि अन्योक्ति में जिस अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वह उपात्त शब्द का अर्थ नहीं होता।

इसका आशय यह है कि तात्पर्यवादी ध्वनि का तात्पर्य में समावेश करते हैं, परन्तु तात्पर्य उपात्त शब्द के अर्थ में ही हो सकता है अन्योक्ति में जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह अन्य अर्थ वाक्य में साक्षात् प्रयुक्त किसी शब्द का नहीं है। ऐसी स्थिति में उस अर्थ को तात्पर्यार्थ नहीं कहा जा सकता। तात्पर्यवादी ध्वनि का तो निषेध करते हैं, तब उसे क्या कहा जायगा ? अतः वह व्यंग्यार्थ ही है।

(२) विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु ।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥ २ ॥

इस श्लोक में प्रसंग समझना आवश्यक है। प्रथम चरण में दो वाक्यों का संदर्भ है—(१) 'विषं भक्षय या चास्य गृहे भुङ्क्था' तथा 'पूर्वो धावति' इन वाक्यों में तात्पर्यवादी अश्रूयमाण पदार्थों में तात्पर्य मानते हैं। प्रथम वाक्य को दो वाक्य (दो क्रियापद, 'भक्षय' तथा भुङ्क्था होने से) मानकर अश्रूयमाण पदार्थ में तात्पर्य का होना सिद्ध करते हैं।

व्यंजनावादी 'विषं भक्षय' आदि वाक्य को एक वाक्य मानकर, (क्योंकि 'विषं भक्षय' आदि वाक्य सुहृद वाक्य है, और सुहृद 'विष खालो' ऐसा कह नहीं सकता, फलतः 'विषं भक्षय' वाक्य का अर्थ अनुपपन्न रहता है, अतः यह वाक्य आगे आने वाले वाक्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्था' का अंग बन जाता है, अतः यह एक वाक्य है)। श्रूयमाण पद 'मा चास्य गृहे भुङ्क्था' के अर्थ में ही तात्पर्य मानते हैं। तथा यह भी कहते हैं कि अश्रूयमाण पदार्थ में तात्पर्य होने लगा तो 'पूर्वो धावति' आदि वाक्य में 'अपरः' में भी तात्पर्य होने लगेगा, जो अनुपयुक्त होगा। अतः तात्पर्य श्रूयमाण पदार्थ में ही होता है। इसलिये ध्वनिवादी कहते हैं—

'विषं भक्षय'........' तथा पूर्वो धावति.....आदि सुतादि में कहे गये वाक्यों में (तात्पर्य श्रुत पदार्थों में ही हैं) (ऐसी स्थिति) में प्रधानतः ध्वनि का प्रसरण (अस्तित्व) किसके द्वारा अथवा किस प्रकार वारित होगा।' इसलिये व्यंजना और ध्वनि माननी ही होगी।

(३) [1]ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं [2]वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
[3]तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ ३ ॥

इस कारिका के चरण १, २, ३ में ध्वनिवादियों का सिद्धान्त कथन है। चतुर्थ चरण में (तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्) तात्पर्यवादियों की स्थापना है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ध्वनिवादी मत—

'ध्वनिश्चेतस्वार्थविश्रान्तं' = वाक्य के स्वार्थ के विश्रान्त होने पर (तात्पर्यार्थ हो जाने पर) ध्वनि है।

'वाक्यमर्थान्तराश्रयम्'—(स्वार्थ के विश्रान्त हो जाने पर) जब वाक्य अन्य अर्थ का आश्रय लेता है (प्रतीयमानार्थ की प्रतीति कराता है) अतः पूरे प्रथम पंक्ति का अर्थ होगा—'वाक्य के स्वार्थ के विश्रान्त होने पर, जब वाक्य अर्थान्तर की प्रतीति कराता है तब ध्वनि होती है।

तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ = तत् (तात्पर्य) परत्वं (निष्ठा, प्रसार) तु अविश्रान्तौ (अविश्रान्ति में)

और तात्पर्यवृत्ति का प्रसार तो वाक्यार्थ की अविश्रान्ति तक है। तात्पर्यार्थ द्वितीय कक्षा का विषय है, जब तक वाक्यार्थ की विश्रान्ति नहीं होती तभी तक तात्पर्य का प्रसार है, अविश्रान्ति तक तात्पर्य का 'परत्व' है और निष्ठा है।

तात्पर्यवादी का उत्तर है—तन्न (ऐसा नहीं है) विश्रान्त्यसम्भवात्, (विश्रान्ति के असंभव होने से)।

तात्पर्यवादी वस्तुतः वक्ता की इच्छा पूर्ण होने तक तात्पर्य का प्रसार मानते हैं, केवल वाक्यार्थ प्रतीति में तात्पर्य की विश्रान्ति नहीं मानते।

(४) एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत् कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ ४ ॥

यह तात्पर्यवादी धनिक की मान्यता है।

'यहीं तक (एतावत्येव) तात्पर्य की विश्रान्ति है (विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति) (ऐसा) किसने किया है।

'तात्पर्य कार्य की पूर्णता तक है (यावत्कार्यप्रसारित्वात्) तात्पर्य (कोई) तुला में तौली हुई वस्तु नहीं है। (न तुलाधृतम्)

अर्थात् वाक्यार्थ की विश्रान्ति तक ही तात्पर्यवृत्ति है, ऐसा निर्णय किसने किया। तात्पर्य कोई तुला में तौली हुई वस्तु नहीं है कि तौल कर उसका निर्धारण यहाँ तक है—ऐसा कह दिया। तात्पर्य 'यावत्कार्यप्रसारी' है, जब तक वाक्य का कार्य पूर्ण नहीं होता तब तक तात्पर्य भी विश्रान्त नहीं होता। यहाँ यह कह देना प्रासंगिक है कि—तात्पर्य की धारणा मूलतः मीमांसकों की है। अभिहितान्वयवादी मीमांसक, अभिधा से केवल पदार्थों की उपस्थिति मानते हैं, इन अनन्वित पदार्थों का अन्वय, आकांक्षा (वक्ता की) सन्निधि और योग्यता के बल से वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है। वक्ता के तात्पर्यानुसार होने से इसे तात्पर्यार्थ कहते हैं। और तात्पर्यशक्ति द्वारा बोध्य मानते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परन्तु, धनिक ने इस तात्पर्यशक्ति का अति विस्तार कर दिया है। श्रूयमाण, अश्रूयमाण सभी पदार्थों में तात्पर्य का प्रसार माना है। इस मान्यता में तर्क कम, 'किं कृतम्' न 'तुलाधृतम्' जैसे कुतर्क अधिक हैं।

(५) भ्रमधार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५ ॥

यह ध्वनिवादी का तर्क है 'भ्रम धार्मिक……' आदि गाथा में 'भ्रमण करो' (भ्रमिकृत) आशय (आस्पदम्) है, इसमें (आशय में वाक्य की) पूर्ण उपरति (निर्व्यावृत्ति) है, तब वाक्य निषेधार्थ को कैसे व्यक्त करेगा ? (निषेधमुपसर्पति) इस गाथा में वाच्यार्थ है 'भ्रमण करो' प्रतीयमानार्थ है 'भ्रमण मत करो' सिंह खा जायगा।' परन्तु वाच्यार्थ में ही विश्रान्ति होने से, निषेध अर्थ की प्रतीति तो अन्य शक्ति से ही माननी होगी और वह व्यंजना है, अतः 'भ्रम धार्मिक…आदि गाथा में निषेध परक अर्थ व्यंग्य ही माना जायगा, इसलिये व्यंजना है।

(६) प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षितप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥ ६ ॥

तात्पर्यवादी धनिक कहते हैं—वाक्यार्थ की अपेक्षा पूर्ण होगई (प्रतिपाद्यस्य अपेक्षापूरणाद्यदि), इसलिये तात्पर्य की विश्रान्ति, यदि मानें (तो ठीक नहीं है क्योंकि) वक्ता की विवक्षा प्राप्ति तक (वक्तुर्विवक्षितप्राप्तेः) अविश्रान्ति ही क्यों न रहेगी (अविश्रान्तिः न वा कथम्)।

'भ्रम धार्मिक…' आदि गाथा में 'भ्रमण करो' में वाक्यार्थ पूर्ण हो गया, अन्य बात की अपेक्षा नहीं है, इसलिये यहीं द्वितीय कक्षा में तात्पर्यशक्ति की विश्रान्ति मानकर ध्वनिवादी, निषेधपरक अर्थ को व्यंजनागम्य, व्यंग्यार्थ मानते हैं। परन्तु, धनिक का तर्क यह है कि वाक्यार्थ भले ही विधिपरक अर्थ में विश्रान्त हो जाए पर वक्ता (पुंश्चली नायिका) की विवक्षा तो पूर्ण नहीं हुई, वह तो 'भ्रमण निषेध' ही चाहती है। अतः जब तक वक्ता का इच्छित अर्थ प्रतीत न हो जाय तब तक तात्पर्य की अविश्रान्त ही क्यों न माना जाय। इसलिये 'भ्रम धार्मिक…' आदि गाथा में निषेधार्थ भी तात्पर्यार्थ ही है।

(७) पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ ७ ॥

यह भी स्वमत को पुष्ट करने के लिये तात्पर्यवादी का तर्क है। लौकिक वाक्यों की वक्ता की विवक्षा के प्रति परतन्त्रता होती है, अन्य शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि लौकिक वाक्य वक्ता की इच्छा के आधीन होते हैं। वक्ता का अभिप्रेत तात्पर्य है अतः काव्य का भी तात्पर्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार धनिक ने यह प्रतिपादित किया कि तात्पर्य की कोई सीमा नहीं है। वक्ता का अभिप्राय जब तक पूर्ण न हो तब तक तात्पर्य का ही प्रसार मानना चाहिये। विधि निषेध-वाक्यों में भी अतः प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यान्तर्गत होगा। इसलिये व्यञ्जना और व्यंग्यार्थ आदि की कल्पना व्यर्थ है।

अतः काव्य और रस में व्यञ्जक-व्यंग्य भाव नहीं है।[1] वरन् इनमें परस्पर भाव्य-भावक संबंध है। काव्य भावक है, रसादि भाव्य हैं। तथा तत्तत् रस के अनुकूल विशिष्ट विभावों के द्वारा काव्य उनकी भावना कराता है।[2]

धनिक के काव्य और रस में भावक-भाव्य संबंध पर यह आपत्ति हो सकती है कि शब्द और अर्थ में इस प्रकार का संबंध अन्यत्र दिखलाई नहीं पड़ता, काव्य के शब्द भी अन्य शब्दों के समान ही हैं फिर काव्य के सम्बन्ध में यह भावक-भाव्य कैसे बनेगा? इसका उत्तर देते हुए धनिक कहते हैं—भावनाक्रिया को स्वीकार करने वाले मीमांसकों के द्वारा, वैसी क्रिया 'भावना' स्वीकार की गई है—अतः भावक-भाव्य संबंध शास्त्रानुमोदित है। तथा काव्य में यह संबंध अन्वय—व्यतिरेक से सिद्ध है। यदि काव्य में रसादि के भावक पदों का प्रयोग है तो रस की भावना होगी अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से धनिक का मत स्पष्ट हो जाता है। धनिक तात्पर्यार्थ में ही प्रतीयमानार्थ को अंतर्भावित कर देते हैं। तात्पर्यार्थ की मीमांसकों की मूल कल्पना निश्चित ही इतनी व्यापक नहीं—धनिक के तात्पर्यार्थ में सभी अर्थ आ जाते हैं। परन्तु तात्पर्य और व्यंग्यार्थ में भेद है—जैसा कि आचार्य मम्मट के प्रकरण में स्पष्ट होगा। मम्मट ने उदाहरण देकर तात्पर्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ का भेद बतलाया है।

और, जब तात्पर्यार्थ से व्यंग्यार्थ भिन्न है तो हमें इस विशिष्ट अर्थ की प्रतीति हेतु पृथक व्यापार भी मानना होगा, यदि इसे आलंकारिक व्यंजना व्यापार कहें तो क्या आपत्ति होनी चाहिये।

२. **भट्ट नायक**—भट्ट नायक व्यञ्जना विरोधी हैं। भरत मुनि के 'विभावानुभाव······आदि, रस-सूत्र की व्याख्या में प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट ने रस की 'उत्पत्ति' प्रतिपादित की थी। द्वितीय व्याख्याता शंकुक ने 'रस' की 'अनुमिति' मानी। ध्वनिवादि आचार्यों ने रस को व्यंग्य माना और व्यञ्जना वृत्ति द्वारा उसकी अभिव्यक्ति सिद्ध की। यही अभिव्यक्ति विषयक मत आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा पूर्णता को पहुँचाया गया। अभिनवगुप्त ने इसे दार्शनिक आधार दिया।

१. 'अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्य-व्यंजक भावः···दशरूपकम् पृ० २५१

२. दशरूपकम्—डॉ० व्यास पृ० २५१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भट्ट नायक का व्यञ्जना के संबंध में जो भी विरोध है, वह 'रस' की 'अभिव्यक्ति' के प्रसंग को लेकर व्यक्त हुआ है। रस प्रतीति पर ही उन्होंने विचार भी किया है, व्यञ्जना पर पृथक रूप से भट्ट नायक ने विचार नहीं किया। किया भी हो तो उपलब्ध नहीं हैं। भट्ट नायक का एक मात्र ग्रन्थ हृदयदर्पण कहा जाता है। वह भी प्राप्य नहीं है। उसके उद्धरण अथवा उसमें प्रतिपादित मत, अभिनवगुप्त के शब्दों में, नाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक की व्याख्या में उपलब्ध होते हैं। इन उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भट्ट नायक रस की उत्पत्ति, अनुमिति अथवा अभिव्यक्ति को नहीं मानते। रस की उत्पत्ति मानने पर या तो उसे परगत माननी होगी अथवा स्वगत। परगत उत्पत्ति मानने पर सामाजिक तटस्थ हो जाता है तब उसे रस की प्रतीति कैसी होगी? (रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्)। स्वगत प्रतीति मानने पर यह लौकिक अनुभव के समान होगी। सीता आदि पात्र पूज्य भाव के कारण सामाजिक के प्रति विभाव भी न बन सकेंगे। इसके अतिरिक्त लौकिक करुणा के समान ही करुण दृश्यों से अनुभूति होने के कारण करुणरस प्रधान नाटकों में पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी (उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणाप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्)। अतः रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

अनुमिति तो संदिग्ध एवं अप्रत्यक्ष विषयों में ही होती है और साक्षात्कारात्मक रसानुभूति न संदिग्ध है, न अप्रत्यक्ष। अतः इसमें अनुमिति का अवसर ही नहीं है।

अभिव्यक्ति पूर्व विद्यमान वस्तु की ही होती है और रस न तो अनुभूति के पूर्व ही विद्यमान रहता है और न अनुभूति के पश्चात् ही। अतः रस की अभिव्यक्ति भी नहीं होती।

इसलिए न तो रस उत्पन्न होता, न प्रतीत होता और न अभिव्यक्त ही होता (तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते काव्येन रसः)। इस प्रकार पूर्व स्थापित मतों का खंडन कर भट्टनायक ने अपने युक्तिवाद की स्थापना की। 'युक्तिवाद' में अभिधा और लक्षणा से भिन्न शब्द के दो अन्य व्यापार भावकत्व और भोजकत्व कल्पित किये गये हैं। अभिधा अथवा लक्षणा से काव्य का अर्थ उपस्थित होता है। भावकत्व व्यापार इसे परिष्कृत कर उपभोग-योग्यत्व प्रदान करता है। भट्ट नायक के शब्दों में भावकत्व को रसभावना नामक द्वितीय व्यापार कहना चाहिये (तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः)। यह भावकत्व व्यापार अर्थ का साधारणीकरण करता है। इसके उपरान्त शब्द का 'भोजकत्व' नामक व्यापार इस साधारणीकृत अर्थ का सामाजिक को रसरूप में भोग करवाता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भट्ट नायक के मतानुसार शब्द के चार व्यापार हैं—(१) अभिधा, (२) लक्षणा, (३) भावकत्व और (४) भोजकत्व।

भट्ट नायक कल्पित भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कोई प्रामाणिकता नहीं है। व्याकरण, मीमांसा, न्याय आदि में कहीं भी इन व्यापारों का आधार नहीं है। जिन विशेषताओं का प्रतिपादन भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व में किया है अभिनवगुप्त ने उन्हें व्यञ्जना में ही निहित सिद्ध किया है। व्यञ्जना का आधार भी प्रामाणिक है। अतः रस को व्यंग्य और व्यञ्जना द्वारा उसकी प्रतीति माननी ही होगी।

३. आचार्य कुन्तक—आचार्य कुन्तक को भी ध्वनिविरोधियों में स्थान दिया जाता है। वक्रोक्ति में ही ध्वनि का भी अंतर्भाव करने वाले आचार्य कुन्तक भी वाच्य-वाचक से व्यतिरिक्त व्यापार का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तथा प्रतीयमान अर्थ भी मानते हैं। ध्वनिवादियों ने ध्वनि काव्य में सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने की सामर्थ्य प्रतिपादित की है। आचार्य कुन्तक इस चमत्कार की सृष्टि वक्रोक्ति द्वारा मानते हैं। वक्रोक्ति ही शब्द और अर्थ का एक मात्र अलंकार है और शब्द तथा अर्थ के लोक प्रसिद्ध स्वरूप से भिन्न अन्य वैचित्र्य से विशिष्ट स्वरूप ही काव्य के उपयुक्त है—

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥[1]

शब्द, अर्थ, वक्रोक्ति इन तीनों के उत्कर्ष से अलौकिक–अनुभवैकगम्य कोई अलौकिक तत्त्व ही काव्यमर्मज्ञों को आह्लादित करता है। लोकप्रसिद्ध मार्ग से वक्रोक्ति विचित्र ही है—

'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा'[2]

आचार्य कुन्तक ने कवि स्वभाव के अनुसार मार्ग—विभाजन किया है। सुकुमार स्वभाव कवि सुकुमार शक्ति के द्वारा सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति वर्णित करता है। विचित्र स्वभाव वाला कवि विचित्र काव्य प्रस्तुत करता है और मध्यम स्वभाव वाला कवि मध्यम काव्य प्रस्तुत करता है। इस प्रकार मार्ग तीन हुए,—(१) सुकुमार, (२) मध्यम और (३) विचित्र। ये सभी मार्ग समान रूप से रमणीय हैं।

विचित्र मार्ग का लक्षण करते हुए आचार्य कुन्तक ने कहा है—

---

१. वक्रोक्ति जीवितम् प्रथम उन्मेष, पृ. ४७ सपादक—श्री राधेश्याम मिश्र
२. ,, ,, ,, पृ. ४८ ,, ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(१) अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम् ।
असंतुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥

विचित्रमार्ग में कवि एक ही अलंकार से संतुष्ट न होकर हार में मणियों के समान एक अलंकार के लिये अन्य अलंकार का आयोजन करते हैं।

(२) यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ॥[१]

(विचित्रमार्ग में) वाच्य रूप में जो वस्तु सौन्दर्ययुक्त नहीं होती वह भी उक्ति वैचित्र्य द्वारा सौन्दर्य की चरम-कोटि का स्पर्श करती है।

(३) यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथा वा यथारुचि ।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः ॥

(विचित्र मार्ग में) अन्य ढंग से विद्यमान वस्तु भी कवि की प्रतिभा के उन्मेष से अन्य ढंग से वर्णित होकर शोभा धारण करती है।

(४) प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥[२]

(विचित्र मार्ग में) शब्द और अर्थ की शक्तियों से भिन्न किसी अनिर्वचनीय वाक्यार्थ की प्रतीयमानता निबद्ध की जाती है।

इस कारिका में आचार्य कुंतक 'प्रतीयमानता' का प्रसंग तो उठाते हैं परन्तु वाक्यार्थ भी प्रतीयमानता कहते हैं जब कि व्यञ्जनावादी आचार्य वाक्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ में भेद प्रतिपादित करते हैं। 'प्रतीयमान' शब्द अर्थ का विशेषण बन कर 'व्यंग्यार्थ' में ध्वनिवादियों द्वारा रूढ कर दिया गया है। अतः 'वाक्यार्थ की प्रतीयमानता' (प्रतीयमानता यत्र वाक्यस्य) क्या होगी ? जब वाक्यार्थ कहा जा रहा है तो वह वाक्यार्थ ही होगा, प्रतीयमान नहीं।

पुनः इस कारिका में 'वाच्य-वाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य' भी कहा गया है। वाच्य-वाचक से व्यतिरिक्त वृत्ति लक्षणा भी है पर यहाँ निश्चय ही कुन्तक का लक्षणा से आशय नहीं है। तब यह वृत्ति कौन सी है ? यदि व्यंजना मानें तो नामतः उसका उल्लेख नहीं है। पर प्रतीयमानता के प्रसंग में यह वृत्ति व्यंजना ही हो सकती है, अन्य कोई नहीं।

---

१. वक्रोक्ति जीवितम् प्रथम उन्मेष, पृ. १२२ संपादक श्रीराधेश्याम मिश्र
२. ,, ,, ,, पृ. १२३ ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अतः यह कहा जा सकता है कि कुन्तक व्यंजना को मानते हैं, उसे वाचक-वाच्य से भिन्न भी स्वीकार करते हैं पर नामतः नहीं कहना चाहते। प्रतीयमानता भी स्वीकार करते हैं पर वाक्यार्थ भी। इससे आगे कुन्तक ध्वनि-सिद्धान्त को नहीं मानते। ध्वनि के सभीरूपों का अंतर्भाव वक्रता के विभिन्न भेदों में कर देते हैं, जैसे—पर्याय-वक्रता के तृतीय भेद में शब्दशक्तिमूला ध्वनि को दिखा दिया है।[1]

परन्तु यह मानना होगा कि अन्य ध्वनिविरोधियों की भाँति विधिपूर्वक, पूर्ण समायोजन के साथ, कुन्तक ने व्यञ्जना अथवा ध्वनि का विरोध नहीं किया है वरन् आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित प्रतीयमान अर्थ भी रमणी के लावण्य से तुलना का औचित्य भी माना है। वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना और बिना कटुता के वक्रोक्ति में ध्वनिका भी अंतर्भाव यह कह कर दिखाया गया है जिसे हमने पर्याय वक्रता के तृतीय भेद में कहा है, वह ध्वनिवादियों के मतानुसार शब्द शक्त्युत्थ—ध्वनि का भी विषय है। महिम भट्ट, भट्ट नायक तथा धनन्जय—धनिक की कोटि के ध्वनि विरोधी आचार्य कुन्तक नहीं हैं।

४. **राजानक महिमभट्ट**—ध्वन्यालोककार आचार्य आनंदवर्धन द्वारा प्रस्थापित व्यञ्जना और तद्-प्रतीत्य व्यंग्यार्थ को 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के रचयिता राजानक महिम भट्ट ने अनुमिति और तज्जन्य अनुमेयार्थ में अंतर्भावित किया। 'व्यक्तिविवेक' ग्रंथ की रचना का उद्देश्य ग्रंथ के प्रथम विमर्श के प्रथम श्लोक[2] में ही स्पष्ट कर दिया गया है। रचनाकार ने कहा है—

'संपूर्ण ध्वनि का अंतर्भाव अनुमान में प्रकाशित करने के लिये 'परा वाणी' को प्रणामानन्तर महिम 'व्यक्तिविवेक' की रचना करते हैं।' 'व्यक्ति' का तात्पर्य 'व्यंजना' से है। अतः इस ग्रंथ में व्यञ्जना का 'विवेक' है। ध्वनि के स्थापक आचार्यों ने व्यंग्यार्थ की प्रतीति करने वाली शक्ति व्यंजना को आधार रूप में प्रस्तुत किया है। अतः महिमभट्ट ने मूल से ही खंडन प्रक्रिया प्रारंभ की है। महिम प्रतीयमान अर्थ का तो अस्तित्व स्वीकार करते हैं परन्तु उसे व्यंग्यार्थ कहना औचित्यपूर्ण नहीं समझते। वे उसे अनुमेयार्थ कहना चाहते हैं और व्यञ्जना के स्थान पर अनुमितिलब्ध सिद्ध करते हैं। महिम भट्ट शब्दशक्ति, अर्थव्यापार, प्रतीयमान अर्थादि के विषय में अपने ढंग से विचार करते हैं। इसमें विरोध अथवा खंडन की प्रवृत्ति ही अधिक तीव्र है। यह प्रवृत्ति महिम भट्ट ने जानकर ग्रहण की है क्योंकि महान व्यक्तियों

---

१. व. जी. द्वि. उ. पृ. २० सं. श्री राधेश्याम मिश्र।

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥ १॥ व्यक्तिविवेक, प्र. विमर्श

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से परिचय किसी भी प्रक्रिया से हो, गौरवप्रद ही होता है और 'विरोध' भी परिचय प्राप्त करने की एक विधि है। 'ध्वन्यालोक' के यशस्वी रचयिता आनंदवर्धन से विरोध ने भी महिम भट्ट को गौरव और यश ही दिया।[1] यहाँ महिम भट्ट द्वारा कथित उन कतिपय धारणाओं का विवेचन किया जा रहा है जिनका व्यंजना खंडन से संबन्ध है।

व्यंजनावादी अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को शब्दव्यापार मानते हुए शब्द की शक्ति कहते हैं। महिम भट्ट शब्द में अनेक शक्ति की मान्यता को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार शब्द की मात्र एक शक्ति होती है और वह अभिधा है। इसके अतिरिक्त जो भी अन्य शक्तियाँ लक्षणा और व्यंजना नाम से मानी गई है उन सभी का अंतर्भाव अनुमान में हो जाता है।

(१) शब्द की अनेक शक्ति-विषयक मान्यता का खंडन—'शब्द का अनेक शक्तिसमाश्रयत्व प्रसिद्ध[2] होने से शब्द में अनेक शक्ति का आश्रय नहीं माना जा सकता। शब्द की अनेक शक्तियों का प्रमाण क्या है? प्रमाणाभाव में शब्द की एकाधिक शक्तियों को आधान कैसे स्वीकार किया जा सकता है? शब्द के विभिन्न व्यापारों की कल्पना का आधार शब्द में एकाधिक शक्तियों का आश्रय मानना है। जब शब्द में अनेक शक्तियों का आश्रय ही नहीं माना जा सकता तब शक्तियों के समाश्रय से उसके अन्य व्यापारों की कल्पना स्वतः ही निरस्त हो जाती है। अतः जो अन्य व्यापार हैं[3] वे अर्थ के हैं, शब्द के नहीं।

शब्द में एकाधिक शक्तियों का निवास नहीं है, इस संबंध में महिम भट्ट के तर्क निम्नाङ्कित हैं—

एकाधिक शक्तियों का आशय जब एक ही होता है तो उसमें ये विशेषताएं देखी जाती हैं।

(क) अन्योन्यानपेक्षप्रवृत्तयः—जब एकाधिक शक्तियाँ एक आश्रय में निहित होती हैं तो वे परस्पर निरपेक्ष भाव से रहती हैं जैसे—अग्नि में 'दाहक' और 'प्रकाश' रूप शक्तियाँ परस्पर निरपेक्ष रूप में निवास करती हैं परन्तु शब्द में जिन शक्तियों की कल्पना की गई है वे परस्पर निरपेक्ष नहीं है।

(ख) अपाकृतपौर्वापर्यनियमाः—एक ही आश्रय में निहित एकाधिक शक्तियों में पूर्वापर का भाव नहीं होता। एक शक्ति की प्रवृत्ति हो जाने के उपरान्त द्वितीय शक्ति

---

१. इह सम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचोविवेचनं नः।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय ॥३॥ व्यक्ति विवेक विमर्श

२. तस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वासिद्धेः......... व्यक्तिविवेक पृ. ११३

३. व्यापारान्तरस्य... शब्दस्य ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

की प्रवृत्ति होती हो—ऐसा नहीं है। अग्नि की दाहकत्व और प्रकाशकत्व शक्तियाँ एक साथ ही प्रवृत्त होती देखी जाती हैं। परन्तु, शब्द में अभिधा के अतिरिक्त जिन शक्तियों का आधान माना गया है उनमें पूर्वापर का नियम देखा जाता है। अभिधार्थ का बाध होने पर ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है, लक्षणा के अनन्तर प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जना साधन मानी गई है। एक ही आश्रय में निहित शक्तियों में ऐसा पौर्वापर्य क्रम नहीं होता, अतः शब्द में एकाधिक शक्तियों का आश्रय मानना अनुपयुक्त है।

(ग) युगपदेव स्वकार्यन्कारिण्यो दृष्टाः—एक ही आश्रय में निहित शक्तियाँ एक साथ अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं। जैसे 'दहन' और 'प्रकाशन' एक साथ ही होता है परन्तु शब्द में कल्पित शक्तियाँ एक साथ प्रवृत्त नहीं होतीं।

[यहाँ यह कह देना उचित होगा कि लक्षणा तो फिर भी मुख्यार्थ बाधा आदि की अपेक्षा करती है पर व्यञ्जना तो अभिधा के साथ ही और क्रम से भी प्रवृत्त होती है। असंलक्ष्य क्रम में क्रम होते हुए भी दिखलाई नहीं पड़ता और अभिधा-व्यापार तथा व्यांजना-व्यापार युगपदेव भासित होते हैं।]

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों के आधार पर महिम भट्ट ने सर्व प्रथम शब्द में एकाधिक शक्तियों की मान्यता का खंड्न किया।[1]

(२) अन्यान्य व्यापारों का आश्रय 'अर्थ' है—महिम भट्ट एकाधिक अर्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। तब जिस व्यापार से इन अर्थों की प्रतीत होती है, उनका आश्रय क्या है? शब्द में तो इन व्यापारों का निषेध कर दिया गया है। महिमभट्ट के अनुसार इन शक्तियों का आश्रय व्यापारों का आधार शब्द से भिन्न है और यह आश्रय 'अर्थ' है।[2] और अर्थ के व्यापार का अन्तर्भाव अनुमान में समझना चाहिये।[3] इस प्रसंग को महिमभट्ट 'गोर्वाहीकः' उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। यह उदाहरण आलंकारिकों द्वारा सारोपा-लक्षणा का माना गया है। महिमभट्ट के अनुसार 'गोर्वाहीकः' में 'गो' और 'वाहीक' के अर्थ में एकता बाधित है, तब ताद्रूप्यविधान कैसे सिद्ध होगा? (ताद्रूप्यविधानान्यथानुपपत्त्या) इस अन्यथानुपपत्ति के कारण 'गो' और

१. 'तथा हि, एकाश्रयाः शक्तयोऽन्योन्यानपेक्षप्रवृत्तयोऽप्राकृतपौर्वापर्यनियमा युगपदेव स्वकार्यकारिण्यो दृष्टाः यथा दाहकत्वप्रकाशकत्वादयोऽग्नेः। न च शब्दाश्रयाः शक्तयस्तथा दृश्यन्ते, अभ्युगम्यन्ते वा, नियोगतोऽभिधाशक्तिपूर्वकत्वेनेतरशक्ति-प्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद्भिन्नाश्रया एव ता न शब्दैकसमाश्रया इत्यवसेयम्।'...... व्यक्तिविवेक, पृ० ११४

२. यश्चासावाश्रयो भिन्नः सोऽर्थ एवेति।........व्यक्तिविवेक पृ० ११४

३. 'तद्व्यापारस्यानुमानान्तर्भावोऽनुमन्तव्य एव'......व्यक्तिविवेक पृ० ११४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'वाहीक', ये अर्थ अपने कतिपय अंश से अभेद का अनुमान कराते हैं, सर्वात्मना नहीं।[1]

अभेद आरोप का निमित्त मात्र सादृश्य ही है। सादृश्य को देखे बिना भला कौन उन्मत्त अभेद आरोप करेगा? 'गोर्वाहीक:' जैसे कथनों का निमित्त साधर्म्य प्रतिपादन मात्र होता है, और इसका प्रयोजन है, गवारिगत जाड्यादि धर्मों का वाहीक आदि में प्रतिपादन।[2] कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अभेदारोप का निमित्त सादृश्य मात्र को ही मानेगा। 'अभेद' स्वयं आरोप का निमित्त नहीं बन सकता। 'गोर्वाहीक:' में अभेद की प्रतीति तो वाच्यतया प्रारम्भ में ही हो जाती है क्योंकि 'गो' और 'वाहीक' का एक विभक्ति में कथन किया ही गया है। शब्द से भासित एकत्व, प्रतीति के अनन्तर बाधित हो जाता है[3] क्योंकि 'वाहिक' 'गो' नहीं है। तब इनमें जो ताद्रूप्य कहा गया उसकी अनुपपत्ति होती है। इस उपपत्ति को संगत करने के लिए प्रयुक्त अर्थापत्ति द्वारा ये अर्थ अंशत: अभेद का अनुमान कराते हैं। 'गो' शब्द का पूर्ण अर्थ 'वाहीक' शब्द के पूर्ण अर्थ के साथ अभेद का अनुमान नहीं कराता, वरन 'गो' के अर्थ में जो जाड्यादि अंश है वही वाहीकगत इस प्रकार के गुण का अनुमान कराता है। अत: इस अनुमेय अर्थ की प्रतीति का आधार अर्थ ही है, इसको उत्पन्न करने वाला व्यापार भी अर्थ का ही व्यापार समझना चाहिये शब्द का नहीं।

इसी प्रकार 'कृशाङ्गयाः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्'[4] में भी समझना चाहिये।

'अविनाभाव के ज्ञान पूर्वक ही अन्य से अन्य की प्रतीति को अनुमान कहा गया हैं।'[5] अनुमान के इस लक्षण के अनुसार 'वदति' से 'प्रकाशयति' की प्रतीति अनुमान द्वारा ही होती हैं क्योंकि 'वदति' इत्यादि में 'वदन' से अन्य अर्थ 'प्रकाशन' की प्रतीति होती है। 'वदन' और 'प्रकाशन' में कारण कार्य-भाव-कृत अविनाभाव संबंध है। 'वदन कारण है और प्रकाशन इसके कार्यत्वेन प्रसिद्ध है। 'प्रकाशन' रूप अर्थ 'वदन' का वाच्यार्थ तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि 'वदन' का 'प्रकाशन' रूप अर्थ में संकेतग्रह नहीं है। (असंमितत्वात्) और 'प्रकाशन' का 'वदन' से अभेद भी नहीं है। 'वदन' अपने स्वार्थ का भी प्रतिपादन नहीं कर रहा है, क्योंकि उसके

१. गौर्वाहीक इत्यादौ तावद्गवादयोऽर्था बाधितवाहिकाद्यर्थान्तरैकात्म्यास्ताद्रूप्य-विधानान्यानुपपत्त्या केनचिद् अंशेन तत्र तत्त्वमनुमापयन्ति न सर्वात्मना।······ व्यक्तिविवेक पृ० ११४
२. व्यक्तिविवेक······पृ० ११४
३. 'तद्धि वाच्यतयोपक्रम एव भासते, न प्रतीतिपर्यवसानास्पदं भवितुमर्हति, तस्य बाधोपपत्तेः··· ···व्यक्तिविवेक, पृ० ११४
४. व्यक्तिविवेक··· ···पृ० ११७
५. 'अविनाभावावसायपूर्विका ह्यन्यतोऽन्यस्य प्रतीतिरनुमानमित्यनुमानलक्षणमुक्तम्'··· ···पृ० ११७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बाध की उपपत्ति हो रही है।[1] इस बाधादि के कारण, क्योंकि श्लोक में संगति नहीं होगी, यह विचार कर यदि लक्षणा मानी जाय और यह कहा जाय कि 'वदन' क्रिया अपने ही सदृश 'प्रकाशन' क्रिया के अर्थ में है तो श्लोक में 'वदति' का वैसा अर्थ न करने पर संगति नहीं होगी, अर्थ की उपपत्ति नहीं होगी। इस अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से 'वदति' का 'प्रकाशन' रूप अर्थ प्रतीत होगा और अर्थापत्ति तो अनुमानान्तर्गत ही है। इसलिए यह लक्ष्यार्थ न होकर अनुमेयार्थ ही है।[2]

इसलिये 'गोर्वाहीकः' आदि वाक्यों में जो साधर्म्य का ज्ञान (अवगम) है, वह—गो और वाहीक में जो अभेद प्रतिपादित किया गया उसकी सिद्धि नहीं होती। वह अभेद अनुपपन्न ही रहता हैं। इस अभेद की अन्यथानुपपत्ति से परिकल्पित अर्थ अनुमान का ही विषय है। वह शब्द का व्यापार नहीं है।[3] इस प्रकार महिमभट्ट ने लक्षणादि व्यापार को शब्द का व्यापार न मानकर अर्थ का ही व्यापार माना है और उसे अनुमान के अंतर्गत रखा है। इस संबंध में महिमभट्ट का संग्रह श्लोक यह है—

गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते ।
को ह्यतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशेद् बुधः ॥

(३) अर्थनिरूपण——व्यञ्जनावादी आचार्य वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ इस प्रकार अर्थ के तीन भेद मानते हैं, किन्तु महिमभट्ट अर्थ के दो ही प्रकार[4] कहते हैं—

(१) वाच्य और (२) अनुमेय

इन दो भेदों में से शब्द व्यापार का विषय वाच्यार्थ कहलाता है, इसे ही मुख्यार्थ भी कहा जाता है।[5] वाच्य और अनुमेय अर्थ का भेद करते हुए महिम भट्ट कहते हैं कि वाच्यार्थ में सुनने मात्र से तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है परन्तु अनुमेयार्थ तो यत्नोपपादित होता है—

श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते ।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ॥

अनुमिति के द्वारा लिङ्ग आदि से जिस अर्थान्तर का अनुमान होता है वह अनुमेयार्थ है।[6] यह अनुमेयार्थ तीन प्रकार का होता है—(१) वस्तुमात्र, (२) अलंकार

---

१. न चायं स्वार्थमेव प्रतिपादयति, तस्य बाधोपपत्तेः······व्यक्तिविवेक—पृ० ११८
२. वदनादेः प्रकाशादिः प्रतीयमानोऽनुमेय एव भवितुमर्हति, अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमादित्युक्तम्······,, पृ० ११८
३. न शब्दव्यापारस्येति स्थितम्······,, पृ० ११८
४. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। व्यक्तिविवेक पृ० ४७
५. तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः स एव मुख्य उच्यते। व्यक्तिविवेक पृ० ४७
६. तत एव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। व्यक्तिविवेक पृ०४७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection.

स्वरूप और (३) रसरूप । इनमें से प्रथम अर्थात् वस्तुमात्र वाच्य भी हो सकता है। अन्य अलंकार स्वरूप और रसरूप--तो अनुमेय ही होते हैं । ध्वनिकार ने वस्तुमात्र और अलंकार स्वरूप अर्थ में वाच्य और व्यंग्य दोनों ही प्रकार के होने की बात कही है। महिम भट्ट अलंकार स्वरूप अर्थ को केवल अनुमेय ही मानते हैं, वाच्य नहीं । पदों का अर्थ वाच्य ही कहा जायगा क्योंकि उसमें साधन-साध्य भाव का अभाव होता है और वे समग्र होते है, उनमें अंश अथवा अवयव नहीं हैं ।[1] परन्तु वाक्यार्थ में अंशों की परिकल्पना होती है । उसमें कुछ अंश विधेय और कुछ उद्देश्य होते हैं । जिस विधेय में उपपादन की अपेक्षा नहीं होती उन्हें 'सिद्ध' तथा जिसमें उपपादन की अपेक्षा होती है उसे असिद्ध या साध्य कहते हैं । इस प्रकार वाक्यार्थ में दो अंश स्पष्ट हैं एक सिद्ध और द्वितीय साध्य । सिद्ध विधेय युक्त वाक्य में जो विधेय और उद्देश्य भाव होता है, वह स्वरूपमात्र कथन के लिये होता है । जैसे 'इस उत्तर दिशा में देवस्वरूप हिमालय नामक पर्वत राज है ।' जिस वाक्य में विधेय सिद्ध नहीं होता उसमें विध्यनुवाद का सम्बन्ध साध्य-साधक भाव रूप होता है । इस प्रकार के वाक्य में उद्देश्य (अनुवाद्य) साधन बन जाता है । अतः साध्य-साधन भाव ऐसे ही वाक्य में होगा जिसमें विधेय प्रसिद्ध है और उपपादन की अपेक्षा रखता है ।[2] साधन-साध्य भाव अविनाभाव सम्बन्ध से निश्चित होता है । (साध्य-साधनभाव श्चानयोरविनाभावावसायकृतोऽवगन्तव्यः)[3] । अविनाभाव सम्बन्धी यह निश्चय प्रमाणों से होता है । ये प्रमाण तीन हैं:— (१) लोक, (२) वेद और (३) अध्यात्म । लोक प्रमाण का विषय लोक प्रसिद्ध रहता है । जैसे—

> कथासि कामिन् सरसापराधः पादानतः कोपनयावधूतः ।
> यस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम् ॥

इस उद्धरण में 'पादानति' का कारण 'सरसापराध' है और झिड़कने का कारण कोप है । यह विषय, साध्य-साधनभाव लोक प्रसिद्ध है, अतः लोक प्रमाण से ही 'पादानति' और 'प्रत्यग्र अपराध' का साध्य-साधनभाव ग्रहण होता है । तथा निम्नोद्धृत श्लोक—

> चन्द्रं गता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
> उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥

---

१. तत्र पदस्यार्थो वाच्य एव नानुमेयः, तस्य निरंशत्वात् साधनसाध्यभावाभावतः……
व्यक्तिविवेक पृ० ४७

२. असिद्धो साध्यसाधनभावरूपोऽप्यनुमानस्यांशस्य साधनधुराधिरोहात् । पृ० ४९

३. व्यक्तिविवेक पृ० ४९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

[चन्द्र को प्राप्त कर लक्ष्मी पद्मगुणों का भोग नहीं कर सकती और पद्म का आश्रय ग्रहण करने पर चन्द्रिका का सुख नहीं पाती किन्तु उमामुख को प्राप्त कर चंचलक्ष्मी ने दोनों (चंद्र और पद्म) के आश्रित प्रीति को प्राप्त किया ।]

इस श्लोक में भी लक्ष्मी द्वारा कमल (रात्रिसंकोच के कारण) का और चन्द्र (दिवानुदय) के सुख को एक साथ न पा सकने के कारण लोक प्रसिद्ध हैं ।

वेदप्रमाण वह है, जिसका विषय शास्त्र में प्रसिद्ध हो ।[1] वेद के अंतर्गत इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि का भी संग्रह मान लेना चाहिये ।

अध्यात्मिक विषय अध्यात्मप्रमाण से ज्ञेय होता है ।[2] साध्य-साधन भाव को निश्चित करने वाले प्रमाणों की चर्चा के अनन्तर महिमभट्ट ने साध्यसाधन के भेदों की व्याख्या की है । साधन-साध्य भाव दो प्रकार का होता है--शाब्द और आर्थ ।[3] यह साध्य-साधन भी प्रत्येक, पदार्थ रूप और वाक्यार्थरूप होने से दो प्रकार का होता है । पदार्थरूप साध्य-साधन भाव के जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य, धर्म के समानाधिकरण्य और वैयधिकरण की दृष्टि से अनेक भेद हो जाते हैं ।

वाक्यार्थविषयक साध्य-साधन भाव भी दो प्रकार का समझना चाहिये :—[4]

(१) शाब्द विषयक और (२) अनुमेयार्थ विषयक

इनमें अनुमेयार्थविषयक का यह उदाहरण है, यथा—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

इस श्लोक में 'शूरों के लिये विभूति सर्वत्र सुलभ है' आदि अर्थ अनुमेयार्थ है ।

वाक्यार्थ के विषय में साधन-साध्य भाव सुलक्ष्य होता है, वस्तु मात्रादि के अनुमेय के विषय होने पर यह साध्य-साधन भाव और भी स्पष्ट रहता है । परन्तु 'रस' के अनुमेयार्थ होने पर यह साधन-साध्य भाव स्पष्ट प्रतीत नहीं होता और तब सहभाव की भ्रांति के कारण अन्य वहाँ व्यंजक-व्यंग्य भाव समझ लेते हैं और 'ध्वनि' का व्यपदेश करते हैं । वस्तुतः वह औपचारिक ही माना जाना चाहिये ।

वाच्यार्थ, वैसे चमत्कार की सृष्टि नहीं करता जैसे अर्थ 'विधि-निषेध' आदि अथवा काकु द्वारा कहे जाने पर अथवा अनुमेय होने पर करता है । यह इन अर्थों का स्वभाव ही है । जैसे—श्लोक :—

---

१. शास्त्रमात्रप्रसिद्धार्थविषयो वेदः । ......व्यक्तिविवेक पृ. ५३
२. आध्यात्मिकार्थविषयमध्यात्मम् । ,, ,, ,,
३. स हि द्विविधः शाब्दश्चार्थश्चेति । ,, ,, ५४
४. एवं वाक्यार्थविषयोऽपि साध्यसाधनभावो द्विविधः बोद्धव्यः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ।।

इसमें 'विधि निषेध' के कारण जितनी चारुता उत्पन्न हुई है, उतनी सीधे शब्दों द्वारा कहे गये विधि-निषेध में न हो सकती थी ।[1]

(४) व्यञ्जना--खंडन शब्द का संपूर्ण व्यवहार, साधन-साध्य भाव से गर्भित होने के कारण, प्रायः अनुमानरूप में निष्पन्न होता है ।[2] शब्द व्यवहार दूसरे व्यक्ति को प्रवृत्त अथवा निवृत्त करने के निमित्त होता है । प्रवृत्ति और निवृत्ति क्रमशः सम्प्रत्यय (यथार्थ ज्ञान) और असम्प्रत्यय (अयथार्थ ज्ञान) परक होने से शब्द-व्यवहार के अभाव में संभव नहीं हैं । कोई भी विद्वान अनुमानगम्य युक्ति जाने बिना, वचनमात्र से, किसी वस्तु को यथार्थ नहीं समझ सकता ।

अतः यह शब्द दो प्रकार का होता है--पद और वाक्य के भेद से ।[3] व्यञ्जना-वादी, वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ में व्यञ्जक--व्यंग्य भाव मानते हैं और इसकी प्रतीति व्यञ्जना द्वारा कहते हैं । महिमभट्ट इस मूल आधार व्यंजना का ही खंडन कर रहे हैं । महिम भट्ट के मतानुसार वाच्य और प्रतीयमान अर्थ का मुख्य रूपसे व्यंजक-व्यंग्य भाव ही नहीं बनता ।[4] 'व्यक्ति' अर्थात् व्यंजना का लक्षण ही यहाँ उपपन्न नहीं होता ।[5] अभिव्यक्ति का लक्षण इस प्रकार है--

"सत् अथवा असत् अर्थ का ऐसे प्रकाशक के साथ 'सह--भाव से प्रकाशन' जो सम्बन्ध स्मरणादि की अपेक्षा न करे—अभिव्यक्ति है ।"[6]

इसका आशय यह हुआ कि अभिव्यक्ति सत् अर्थ की भी हो सकती है और असत् अर्थ की भी । परन्तु प्रकाशक के साथ ही सहभाव से प्रकाशन को ही अभिव्यक्ति कहा जायेगा । साथ ही प्रकाशक और प्रकाश्य अर्थ में स्मरणादि सम्बन्ध निर्धारक की अपेक्षा न हो । प्रकाशक प्रकाश्य अर्थ का प्रकाशन करेगा । वस्तुतः प्रकाश्य और प्रकाशक दोनों का ही सहभाव से प्रकाशन होगा ।

---

१. इत्यतश्च यथा विधिनिषेधयोश्चारुतावगतिर्न तथा शब्दाभिधेययोरिति । यथा च प्रतिषेधद्वयानुमितस्य प्रकृतस्यैवार्थस्य विधेश्चारुतावगतिर्न तथा स्वशब्दवाच्यस्य ।

२. सर्व एव हि शब्दो व्यवहारः साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः", व्यक्ति विवेक—पृ. २७

३. द्विविधो हि शब्दः पदवाक्यभेदात् ।··· ··· व्यक्तिविवेक पृ. ,,

४. 'नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्मुख्यवृत्त्या व्यङ्ग्यव्यंजकभावः सम्भवति'—व्यक्ति-विवेक पृ. ८०

५. व्यक्तिलक्षणानुपपत्तेः··· ··· व्यक्तिविवेक पृ ८०

६. तथाहि सतोऽसत एव वार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानपेक्षिणः प्रकाशकेन सहैव प्रकाश[illegible] तल्लक्षणमाचक्षते । बड़ी पृ० ८०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

महिम भट्ट सत् अर्थ के भी तीन प्रकार मानते हैं, अतः उसकी अभिव्यक्ति भी त्रिविध होगी।[1] प्रथमतः सत् अर्थ कार्यरूपेण कारण में शक्ति रूप से निहित हो, वह कार्य तिरोभूत होने से इन्द्रियविषयता को प्राप्त नही हो रहा है। इस कार्य की इन्द्रिय-विषयता को प्राप्ति प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति होगी। उदाहरण के लिये दूध से दही की अभिव्यक्ति को ले सकते हैं। दही दूध में शक्ति रूप में निहित है। तिरोभूत होने के कारण वह इन्द्रियगोचर नहीं है। उसकी इन्द्रियगोचरता ही प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति है।

सत् अर्थ की द्वितीय प्रकार की अभिव्यक्ति वह हो सकती है जिसमें पदार्थ पूर्व से ही आविर्भूत हो, पर किसी प्रतिबन्धक के कारण जिसका प्रकाशन न हो रहा हो। स्वयं को उपसर्जनीकृत प्रकाशक के द्वारा उस पदार्थ का प्रकाशन द्वितीय प्रकार की अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए घट और दीप को लिया जा सकता है। घट पूर्व से ही आविर्भूत है परन्तु अंधकार रूप प्रतिबन्धक के कारण प्रकाशित नहीं है। प्रकाशक कारण दीपक के साथ (प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सह) ही उसका प्रकाशन होता है। व्यंजक का यही स्वरूप निम्नलिखित श्लोक में कहा भी गया है—

स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात् ॥[2]

अर्थात् अपने ज्ञान के साथ-साथ अन्य के ज्ञान का हेतु हो वह व्यञ्जक कहलाता है, जैसे दीपक स्वयं के ज्ञान के साथ-साथ घटका भी ज्ञान कराता है। ध्वन्यालोक-कार आचार्य आनन्दवर्धन ने भी व्यञ्जक का यही स्वरूप कहा है—

'स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परार्थावभासमानो व्यञ्जक इत्युच्यते। यथा प्रदीपो घटादेः''

[अर्थात् अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ परार्थ को भासित करने वाला व्यंजक कहलाता है, जैसे दीपक घटादि को प्रकाशित करता है।]

सत् अर्थ की तीसरे प्रकार की अभिव्यक्ति वह है जिसमें अन्तःकरण में स्थित संस्कार का उस संस्कार से नियत संबंध वाले पदार्थ द्वारा जागरण मात्र हो। जैसे धूम से अग्नि का, चित्र, लिपि, पुस्तक अथवा शब्द से गवादि आदि का ज्ञान। धूम और अग्नि के साहचर्य का संस्कार मन में वर्तमान है। अब बाहर कहीं धूम देखकर वह संस्कार जाग उठता है और अग्नि का अनुमान हो जाता है।[3]

---

१. तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्। पृ. ८०

२. व्यक्तिविवेक पृ. ८०

३. ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार सत् अर्थ की अभिव्यक्ति तीन प्रकार की हुई, परन्तु असत् अर्थ की अभिव्यक्ति तो एक ही प्रकार की होती है, क्योंकि उसके प्रकारान्तर ही संभव नहा हैं, जैसे सूर्य के आलोक से इन्द्र धनुष आदि की अभिव्यक्ति।[1]

अभिव्यक्ति की तीन स्थितियाँ जो ऊपर कहीं गई हैं, वे वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ की प्रतीति में संगत नहीं है। महिम भट्ट कहते हैं कि प्रथम दो प्रकार अर्थात् दही और घट की अभिव्यक्ति प्रकार वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ की प्रतीति को स्पर्श नहीं करती, क्योंकि दही आदि के समान मानने में उसमें इन्द्रियविषयत्व की प्रसक्ति का भय उत्पन्न होगा, और घटादि के समान मानने में वाच्यार्थ ज्ञान के साथ-साथ प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार का है—इस प्रकार की प्रतीति असंभव है।[2] अतः अभिव्यक्ति का यह लक्षण वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ की प्रतीति से वहुत दूर है।

अभिव्यक्ति का तृतीय प्रकार तो अनुमान का ही लक्षण है, उसे व्यञ्जना नहीं कहा जा सकता।[3] जो यह कहा गया है कि 'त्रिरूपलिंग से अनुमेय जो ज्ञान है वह अनुमान है' वस्तुतः वह अनुमान ही है।[4]

एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति अनुमान व्यतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उपमानादि का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव है। कहा भी है—

"न चान्यदर्शनेऽन्यकल्पनायुक्तातिप्रसंगात्। तस्य नान्तरीयकतायां स्यात्। न हि यथाविधसिद्धः तथाविधसन्निधानं सूचयति। सामान्येन च सम्वन्धिनार्थप्रतिपत्तिरनुमानमिति द्वे एव प्रमाणे इति।"

[अर्थात्—अन्य के दर्शन से अन्य की कल्पना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अतिव्याप्ति का दोष उत्पन्न होने का अवसर होगा। व्याप्ति होने पर ही एक अर्थ से अन्य अर्थ की कल्पना संगत है। हर किसी संबंध से ज्ञात (यथाविधसिद्धः) पदार्थ उस तरह के संबंधों का वोध नहीं कराते और सामान्य सम्बन्धों द्वारा प्रतीति अनुमान ही कहलाती है। इसलिये प्रमाण दो ही हैं।]

वाच्यार्थ से अर्थान्तर की प्रतीति अविनाभाव संबंध के स्मरण विना संभव ही नहीं है। यदि अविनाभाव संबंध के बिना स्मरण वाच्यार्थ से अर्थान्तर की प्रतीति मानी जायेगी तो जिस किसी अर्थ से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति का प्रसंग उत्पन्न

---

१. असतस्त्वेकप्रकारैव, तस्य प्रकारान्तरासम्भवाद्, यथार्कालोकादिनेन्द्रचापादेः इति।
व्यक्ति विवेक ··· ··· ···पृ. ८०

२. घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनेदन्ताप्रतीतेरसम्भवात्··· ··· पृ. ८१

३. तृतीयस्यास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव सङ्गच्छते, न व्यक्तेः··· ···पृ. ८१

४. तच्चानुमानमेव ··· ··· पृ. ८१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होगा। वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ की प्रतीति साथ-साथ भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि धूम और अग्नि की प्रतीतियों के सदृश वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ की प्रतीतियों में भी क्रमभाव अनुभव होता है। इसलिये प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति (व्यंजना) मानने में अभिव्यक्ति का लक्षण उसमें संगत नहीं होता।

यदि यह कहा जाय कि रस के प्रसंग को लेकर 'व्यंजना' मानी जा सकती है क्योंकि उसमें वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ की प्रतीति का क्रम लक्षित नहीं होता, या कहें कि रस-ध्वनि में दोनों की प्रतीति साथ-साथ ही होती है तो व्यंजना के लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि वस्तुमात्र अर्थ की प्रतीति में और अलंकार रूप अर्थ की प्रतीति में व्यंजना का लक्षण घटित नहीं होता। इन अर्थों की प्रतीति वाच्यार्थ के साथ सहभावेन नहीं होती।[1]

'रसादि' में भी विभावादि के प्रकाशन के साथ ही रस की प्रतीति नहीं होती क्योंकि कृत्रिम विभावादि रूप कारणों के द्वारा असत् होते हुए भी रत्यादि स्थायीभाव प्रतिविम्ब के समान, कवि के द्वारा प्रमाता के प्रतीतिपथ में लाये जाकर हृदयसंवाद से आस्वाद्यता को प्राप्त होते रह कर 'रस' कहलाते हैं।[2] इसका आशय यह हुआ कि महिमभट्ट कृत्रिम विभावादि को कारण मानते हैं। इन विभावादि के द्वारा प्रतिबिम्ब के समान स्थायीभाव, कवि के द्वारा प्रमाता प्रतीति पथ में लाया जाता है। यही स्थायीभाव आस्वाद्यता को प्राप्त होता हुआ 'रस' है।।

कार्यादि, भले ही वे प्रतिविम्ब कल्प हों, कारण के साथ-साथ प्रकाशित होते हुए नहीं कहे जा सकते। यदि कार्य-कारण का साथ-साथ प्रकाशन माना जाय तो कार्य-कारण भाव के मूल स्वरूप का ही अवसाद होने लगेगा।[3]

इस प्रकार अभिव्यक्ति—व्यंजना का लक्षण इस अर्थान्तर प्रतीति प्रक्रिया में घटित नहीं होता। हाँ दही, घट, दीप आदि में व्यंजना होती है, पर वहाँ काव्य नहीं होता और जब वहाँ काव्य ही नहीं है तब काव्य के एक भेद 'ध्वनि' का व्यपदेश ही कैसे हो सकता है?[4]

---

१. वस्तुमात्रालङ्कारप्रकाशस्य प्रकाशकासहभावेनाव्याप्तेः......व्यक्तिविवेक...पृ. ८३

२. न च रसादिष्वपि विभावादिप्रकाशनसहभावेन प्रकाशनमुपपद्यते।
यतस्तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिविम्ब कल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदय-संवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते।......व्यक्तिविवेक पृ. ८३

३. न च कारणादिभिः कार्यादयः प्रतिविम्बकल्पाः सहैव प्रकाशितुमुत्सहन्तेकार्यकारण-भावावस्थैवावसादप्रसङ्गात्। ...व्यक्तिविवेक पृ. ८३

४. यत्र तु तल्लक्षणं मुख्यतया सम्भवति तद् काव्यमेव न भवतीति कुत एव तद्विशेष-ध्वनिरूपता स्यात्... व्यक्ति विवेक पृ.८२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अतः वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ की प्रतीति में व्यंजना नहीं मानी जा सकती क्योंकि व्यंजना में व्यंग्य-व्यंजक सहभाव होना आवश्यक है और काव्य में वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ प्रतीति में एक क्रम रहता है। अतः 'व्यंजना' की धारणा अनुपयुक्त है। अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति अनुमान का ही विषय है।

(५) शब्द के व्यंजना व्यापार का भी निषेध--महिमभट्ट पूर्व प्रकरण में काव्य में वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में व्यंजना का निषेध कर चुके हैं। अब शब्द के व्यंजना व्यापर का भी निराकरण करते हैं। व्यंजनावादी शब्द के तीन व्यापार प्रतिपादित करते हैं, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। महिम भट्ट शब्द का केवल अभिधा व्यापार ही मानते हैं। महिमभट्ट की इस मान्यता के अनुसार शब्द का अभिधा से व्यतिरिक्त, व्यंजकत्व व्यापार उपपन्न नहीं है, जिससे अर्थान्तर का ज्ञान हो सके क्योंकि व्यंजना की अनुपपत्ति कही जा चुकी है तथा अन्य किसी सम्बन्ध का प्रमाण नहीं है। व्यंजना के अभाव के उपरांत भी यदि उसे स्वीकार करना ही चाहें तो उसमें अर्थ का नियम निर्वाहित नहीं होगा। शब्द एक नियत अर्थ का बोध कराता है। व्यंजकत्व व्यापार में कोई संकोचक कारण न होने से व्यंजकत्व का अर्थ के प्रति नियतत्व नहीं रहेगा।[1] अभिधा में 'संकेतग्रह' नियत अर्थ का प्रत्यायक है, परन्तु व्यंजकत्व में 'नियत अर्थ प्रत्यायकत्व' संकेतग्रह से भी नहीं बनता, क्योंकि व्यंजकत्व तो उपाधिरूप है, प्रकरण बोध्य है। तथा प्रकरण द्वारा पद-पद पर शब्दानुशासन का संकेतग्रह किया नहीं जा सकता क्योंकि---प्रकरणादि तो अनंत और अनियत हैं।[2] इसका आशय यह हुआ कि व्यञ्जनावादी तो प्रकरणादि के अनुसार अलग-अलग व्यंग्यार्थ मानते हैं। प्रकरणादि अनंत हैं (संयोग, वियोगादि) यदि व्यंजकत्व, व्यापार को अभिधाव्यापार के समान मानें तो व्यंजकत्व का भी संकेतग्रह मानना होगा, पर प्रकरणादि के कारण भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थों में शब्दानुशासन गत संकेतग्रह संभव नहीं है।

शब्द एक ही होता है, सामग्री के वैचित्र्य से विभिन्न अर्थों की प्रतीति कराता है। जैसे---

(१) 'रामोऽस्मि सर्वं सहे—'इति'

(२) 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेमम्णः प्रिये ! नोचितम्'

(३) रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते'

---

१. तदभावेऽपि तदभ्युपगमे तस्यार्थनियमो न स्याद् निबन्धनाभावात्……व्यक्ति विवेक पृ० १४६

२. नापि समयकृतः, व्यञ्जकत्वस्यौपाधिकत्वाद् उपाधीनां चार्थप्रकरणादि—सामग्रीरूपाणामानन्त्यादनियतत्वाच्च प्रतिपदमिव शब्दानुशासनस्य समयस्य कुर्तुमशक्यत्वात्।…… पृ० १४६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(४) 'रामे तटान्तवसतौ कुशतल्पशायिन्यद्यापि नास्ति भगवन् भवतो व्यपेक्षा।' वाक्यों में राम' शब्द एक ही है। परन्तु सामग्री वैचित्र्य से ही वह विभिन्नार्थों की प्रतीति करा रहा है।

इस प्रकार महिमभट्ट ने तथाकथित व्यञ्जकत्व व्यापार को उपाधिरूप कहा है। ध्वन्यालोककार के कथन को उद्धृत करते हुए, महिमभट्ट उसके अनुसार भी 'व्यञ्जकत्व' को उपाधिरूप ही सिद्ध करते हैं। आनन्दवर्धन ने, वाच्य-वाचक सम्बन्ध को प्रसिद्ध सम्बन्ध कहा है और व्यञ्जकत्व को इस प्रसिद्ध वाच्य-वाचक सम्बन्ध पर निर्भर तथा गमकत्व लक्षण वाला प्रतिपादित किया है। यह गमकत्व रूप व्यञ्जना-व्यापार प्रकरणादि उपाधियों के बल से भिन्नार्थों की प्रतीति कराता है। यह आनन्दवर्धन का मत है। उपाधियों की सहायता से विभिन्न अर्थों की प्रतीति कराने के कारण 'व्यञ्जकत्व' को औपाधिक ही कहा जायगा।

शब्द किसी निश्चित अर्थ की ही प्रतीति करा सकता है। तब अन्य अर्थों—जैसे उपर्युक्त वाक्यों में निश्चित रामत्व से भिन्न 'दुःख सहिष्णु राम' आदि की प्रतीति शब्द से कैसे होगी ?

निश्चित अर्थों में शब्द का अभिधाव्यापार होता है। अनिश्चित अर्थों में शब्द की कोई प्रवृत्ति नहीं होती तथा अभिधातिरिक्त शब्द का कोई व्यापार है नहीं तब शब्द बिना किसी व्यापार के उन अनिश्चित अर्थों की प्रतीति नहीं करा सकता। यह औपाधिक अर्थ अनियत होता है, प्रकरणादि के विमर्श से उसकी प्रतीति होती है।[1] संकेतित अर्थ में शब्द की अभिधा शक्ति है पर औपाधिक अर्थ प्रतीति में कोई शक्ति नहीं रहती। अतः शब्द में व्यंजकत्व व्यापार की कल्पना मूल में ही असंगत है।

इसलिये शब्द और प्रतीयमान में अन्य कोई भी सम्बन्ध नहीं है, हो भी नहीं सकता। प्रकरणादि सामग्री के सम्बन्ध के बल से उस प्रतीयमान अर्थ का गमकत्व उपपन्न होता है। शब्द से नहीं।[2] इसका आशय यह हुआ कि जिसे व्यंजनावादी प्रतीयमान अर्थ कहते हैं, उसका कारण शब्द कहाँ हुआ ? शब्द का तो एक निश्चित अर्थ है, जैसे 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' आदि वाक्यों में 'राम' शब्द का निश्चित अर्थ है 'रामत्व' उनमें जो अर्थ वैभिन्न्य प्रतीत हो रहा है, उसका कारण 'राम' शब्द नहीं है, वरन् इस अर्थ वैभिन्न्य की प्रतीति का कारण तो प्रकरण है। भिन्न-भिन्न प्रकरण के कारण निश्चित अर्थ की प्रतीति कराने वाला 'राम शब्द' भिन्नार्थ प्रतीत कराता

१. स त्वनियत औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन लक्ष्यप्रतीतिरिति··· ··· पृ. १४८
२. न चानयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवतीति तस्याः सामग्र्या एव सम्बन्धबलात् तद्गमकत्वमुपपन्नं न शब्दस्येति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हैं। अतः कारण प्रकरणादि हैं, शब्द नहीं। अतः सामग्री, प्रकरणादि गमकता रूप हैं, क्योंकि प्रतीयमान अर्थ गमकत्वरूप है। सामग्री की यह गमकता अनुमान रूप ही होगी।

पुनः शब्द को द्योतक भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः तो द्योतक प्रदीपादि होते हैं। शब्द में तो द्योतकता का आरोप कर दिया जाता है।

इस प्रकार शब्द में, व्यञ्जनावादी जो व्यञ्जकत्व रूप व्यापार मानते हैं, वह असंगत है। शब्द में एक ही व्यापार संभव है और वह अभिधा ही है अन्य नहीं।

महिमभट्ट ने ध्वनिकार आचार्य आनंदवर्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के सभी भेदों में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा सिद्ध की है। जो उदाहरण आचार्य आनंदवर्धन ने उद्धृत किये हैं, क्रमशः उन सभी को लेकर महिमभट्ट ने भी विवेचन किया है। प्रत्येक में हेतु, व्याप्ति आदि दिखा कर प्रतीयमान अर्थ को अनुमेयार्थ माना है। इस प्रकार महिमभट्ट ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने विरोध के लिए ही व्यक्ति विवेक की रचना की।

'व्यक्तिविवेक' के तृतीय विमर्श में महिमभट्ट ने ध्वनिकार द्वारा प्रदर्शित ध्वनि के उदाहरणों में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा सिद्ध की है। सर्वप्रथम वस्तुमात्र जिसमें प्रतीयमान है, ऐसे उदाहरण को लिया जाता है—

(१) भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

इस श्लोक का अर्थ है, किसी भाग्यशाली युवक के साथ, पुष्पों से आच्छादित वन में, सुरत सुख का उपभोग करने की लालसा से, संकेत देने वाली नायिका ने उस वन में पुष्प चयन की कामना से भ्रमण करते हुए सिंह को देखा। चतुर होते हुए भी (विदग्धयापि) भोली बनकर (मुग्धयेव), सिंह के क्रौर्यातिरेक का कुक्कुरमात्र के मारण की बात कहकर त्रास उत्पन्न किया। इस प्रकार उस नायिका ने विधिमुखेन भ्रमण का प्रतिषेध किया'।[1]

यहाँ दो अर्थ हैं—वाच्य और प्रतीयमान और ये दोनों अर्थ क्रमशः विधिनिषेध रूप में प्रतीत होते हैं।[2] ये दोनों अर्थ धूमाग्नि के समान, साध्य-साधनमात्र से अवस्थित हैं। विधिरूप वाच्यार्थ 'भ्रम' (घूमो) इसमें धूम के समान साधन है और निषेधपरक प्रतीयमान 'अग्नि' के समान साध्य है।

---

१. 'विदग्धयापि मुग्धयेव विधिमुखेन भ्रमणस्य प्रतिषेधो विहितः—व्य. वि. पृ. ४६३

२. अत्र हि द्विविधौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः—४६३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection

इन दोनों अर्थों में से प्रथम वाच्यार्थ तो स्पष्ट ही है। भ्रमणरूपी साध्य और भ्रमण के बाधक कुत्ते के मरणरूप कारण अथवा साधन, इस प्रकार साध्य और साधन दोनों का उपादान कर ही दिया है, इसलिए वाच्यार्थ स्पष्ट है।[1]

परन्तु द्वितीय प्रतीयमान अर्थ 'मारित:' में प्रयुक्त 'णिच्' पर विचार करने से और मारने वाले प्रयोजक (सिंह) के निरूपण के सामर्थ्य से विवेकशीलों को प्रतीत होता है। यह सामर्थ्य और कुछ नहीं है, यही है कि कुत्ते के मर जाने पर भी यहाँ कुत्ते से अधिक क्रूरतर प्राणी के सद्भाव का कथन है। इसी कथन सामर्थ्य से प्रतीयमान की प्रतीति होती है। यहाँ भ्रमणरूप वाच्यार्थ (साधक) का और प्रतीयमान रूप साध्य का संबंध विरोधमूलक है।[2] इस विरोध संबंध का प्रमाण लोक में प्रसिद्ध है क्योंकि 'भय का क्रूरतम' कारण भी है और 'घूमो भी' यह कथन परस्पर विरोधी हैं।[3]

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब एक वाक्य से दो अर्थों का ज्ञान हो रहा हो तो द्वितीय अर्थ में ही वाक्य की विश्रान्ति किस नियम से होगी, प्रथम में ही अथवा दोनों ही अर्थों में विश्रान्ति क्यों कर नहीं होगी? प्राकरणिकता की दृष्टि से यहाँ विशिष्टता का अभाव है (तयो: प्राकरणिकत्वेन विशेषाभावात्), अत: दोनों ही अर्थ प्राकरणिकत्वेन समान हैं।

इसका उत्तर यह है–यहाँ वाच्य और अनुमेय अर्थ की साथ-साथ प्रतीति नहीं उपपन्न होती है। 'भ्रम' और 'मा भ्रम' ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, इनका एक आश्रयत्व नहीं बनता। (भ्रम मा च भ्रमीरिति विधिनिषेधयोरेकाश्रयत्वविरोधात्)

'घूमो' या 'न घूमो' ऐसी विकल्पात्मक प्रतीति भी नहीं बन सकती क्योंकि इस प्रकार के कथन का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा।

विधिपरक वाच्यार्थ और निषेधपरक प्रतीयमान अर्थ में परस्पर विरोध होने से अङ्गांगिभाव भी नहीं हो सकता।

केवल, भ्रमणविधि में, हेतुरूप से जो दृप्त सिंह की उपस्थिति यहाँ उपात्त है–वही विचारणीय है और उसी से निषेध रूप अर्थ की प्रतीति एवं इस प्रतीति में वाक्य का पर्यवसान सिद्ध होता है, क्योंकि भीरु भ्रमण और सिंह की उपस्थिति इन दोनों में बाध्य-बाधक भाव है। कौन ऐसा उन्मत्त होगा जो कुत्ते के भय से तो न भ्रमण करे और दृप्त सिंह की उपस्थिति में भ्रमण करे? अत: यहाँ अनुमेयार्थ में

१. तत्राद्यस्तावदविवेकसिद्धः स्पष्ट एव ।... ... ... ४६३
२. 'तयोश्च सा[illegible] विरोधमूलः' । ,,
३. स चानयोर्लोकप्रमाणासिद्ध इत्युक्तम् । ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाक्यार्थ का विश्राम[1] है। यहाँ बाध्य-बाधक भाव अवश्य ही मानना होगा, और इसके निश्चय से वाक्य की विश्रान्ति परवर्ती प्रतीयमान अर्थ में ही होती है।[2]

'भ्रम……' आदि श्लोक में 'हे धार्मिक भ्रमण करो' आदि वाक्यार्थ रूप भ्रमणविधि वाच्य है। 'दृप्तसिंह के द्वारा कुक्कुर मार दिया गया' है यह हेतु है भ्रमण का निषेध तो अनुमेय ही है, वाच्य नहीं।

'गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना' कह कर गोदावरी नदी के वन भाग को धर्मि (पक्ष) बनाया गया है। कुत्ते को मारने वाले दृप्तसिंह का सद्भाव हेतु है।[3] 'कुञ्जवासिना' इस विशेषण द्वारा हेतु का पक्ष में सद्भाव बतलाया है।

निर्भय भ्रमणरूप साध्य और इस हेतु (सिंहसद्भाव) सहानवस्थान रूप विरोध प्रसिद्ध ही है। इस स्थिति में हेतु के सद्भाव कथन से द्वितीय 'भ्रमण' का स्वभाव-विरुद्ध होने से निषेध ज्ञात होने पर दोनों अर्थों की समान प्रतीति नहीं होती। इसलिये वाच्यार्थ प्रतीति में वाक्यार्थ का पर्यवसान नहीं होता।

इसलिये भ्रमण का निषेधरूप अर्थ अनुमेय ही है, व्यंग्य नहीं। और भी कि बुद्धिमान अनर्थ की शंका के अभाव का निश्चय होने पर ही प्रवृत्त होते हैं। इस तथ्य के विरुद्ध यहाँ अनर्थ की शंका है और इस विधिवाक्य में प्रयुक्त 'णिच्' के पर्यालोचन से ज्ञात होती है, इसलिये यहाँ व्याप्ति के विरुद्ध उपलब्धि हो रही है। व्याप्ति यह है कि जहाँ-जहाँ भीरुभ्रमण होता है, वह भय कारण की अनुपलब्धि के ज्ञान-पूर्वक होता है। परन्तु यहाँ कुत्ते से अधिक भय का कारण सिंह की उपलब्धि कही जा रही है और 'भ्रम' भी कहा जा रहा है, अतएव यह व्याप्ति के विरुद्ध उपलब्धि है।[4]

इसलिये उपर्युक्त श्लोक में विधिवाक्य से निषेधपरक अर्थ की प्रतीति अनुमिति जन्य अनुमेयार्थ ही है।

(२) कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि! वारितवामे! सहस्वेदानीम्॥[5]

---

१. को ह्यनुन्मत्तः कुक्कुरमात्रसद्भावभयात् परिहृतभ्रमणस्तत्रैव दृप्तसिंहसद्भावाशङ्कायामपि सविस्रम्भं भ्रमेदित्यनुमेयार्थविश्रान्तिनियमहेतुर्बाध्यबाधकभावोऽस्त्येवात्र विशेषः। पृ. ४६४

२. तस्माद् बाध्यबाधकभावावसायकृत एवात्रोत्तरार्थविश्रान्तिनियम इति स्थितम् ,,

३. 'दरिअसीहेणेति' श्वमारणकारणाभिधानद्वारेणोपात्तस्य दृप्तसिंहसद्भावस्य हेतुभावः ४६५

४. तद्विरुद्धश्चात्रानर्थसंशयोऽस्माद् विधिवाक्यणिजर्थपर्यालोचनयावसायत इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या। पृ. ४६६

५. व्यक्तिविवेक पृ. ४०३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यह सखी का वचन है 'किसे प्रिया के सव्रण अधर को देख कर रोष न होगा। मना करने पर भी भ्रमरसहित कमल सूंघने वाली अब सहो'

इस श्लोक में व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—'प्रत्येक कामुक के लिये अपनी प्रिया के सव्रण अधर का दर्शन, ईर्ष्या-प्रकोप का कारण होता है।' (तत्र सव्रणवल्लभाधरदल-दर्शनं सर्वस्यैव कामुकलोकस्येर्ष्याप्रकोपकारणं भवतीति व्याप्तिवचनम्।) 'मना करने पर भी भ्रमरयुक्त कमल सूंघने वाली, तेरे अधर पर घाव हुआ है'—यह पक्ष में हेतु का कथन हुआ। 'अब तू रोष सह', इस प्रकार वाच्यार्थ में साध्यसाधन भाव स्पष्ट है। अनुमेय अर्थ है परपुरुषोपभोग जनित शंका का निरास। यही साध्य है। इस साध्य का साधन (हेतु) अर्थ है, वह हेतु संबोधन द्वारा बतलाया गया है। संबोधन का अर्थ है 'भौरे से युक्त कमल सूंघने का उत्साह वाली', यह हेतु है, और साध्य है कि अधर-दशन का कारण कुछ और है। यहाँ भी विश्रान्ति अनुमेयार्थ में ही होती है।

इस प्रकार महिमभट्ट के अनुसार, आलंकारिक जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं, वह अनुमेयार्थ के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। महिमभट्ट के इस मत का खंडन परवर्ती व्यञ्जनावादी आचार्यों ने किया है। आचार्य मम्मट ने महिमभट्ट द्वारा प्रतिपादित हेतुओं को हेत्वाभास सिद्ध किया है और व्यंग्यार्थ को अनुमेयार्थ कहे जाने का खंडन किया है। वास्तव में व्यंग्यार्थ का अनुमेयार्थ में अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। परंपराभुक्त अर्थों से सर्वथा विलक्षण होने के कारण ही उसे व्यंग्यार्थ कहा गया है और उसकी प्रतीति कराने वाली शक्ति को व्यञ्जना, अतः व्यञ्जना और व्यंग्यार्थ अपलाप योग्य नहीं हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अध्याय ३

१ आचार्य मम्मट

आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना वृत्ति से ज्ञेय व्यंग्यार्थ के आधार पर जिस 'ध्वनि' का प्रतिपादन किया, उस 'व्यंग्यार्थ', व्यञ्जना आदि का जैसा विरोध हुआ वह हम पूर्व पृष्ठों में देख आये हैं। महिमभट्ट ने प्रतीयमानार्थ का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उसे अनुमान का विषय सिद्ध किया। धनंजय-धनिक ने उसे तात्पर्य शक्ति द्वारा व्युत्पन्न माना। मीमांसकों ने व्यंग्यार्थ और व्यञ्जना को अस्वीकार ही किया। मीमांसकानुसारी भट्ट लोल्लट ने एक अभिधा से सभी अर्थों की प्रतीति और सभी अर्थों को वाच्यार्थ ही कहा। आचार्य मम्मट व्यञ्जनावादी परम्परा के पक्षधर हैं। अपने पूर्ववर्ती सभी व्यञ्जनाविरोधियों के तर्कों का खंडन कर आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना की निर्भ्रान्ति स्थापना की है। मम्मट का 'काव्य प्रकाश' भारतीय काव्य-शास्त्र परम्परा का श्रेष्ठ ग्रन्थ है और व्यञ्जना का तर्कसम्मत-स्थापन उसकी अन्यतम उपलब्धि है।

'काव्य प्रकाश' के द्वितीय और पंचम उल्लास मे व्यञ्जना के प्रसंग चर्चित हुए हैं।

मम्मटाचार्य ने व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न सिद्ध किया है, वह लक्ष्यार्थ से भी भिन्न है और उसकी प्रतीति व्यञ्जनागम्य ही है।

व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ भेद प्रकरण—'काव्य प्रकाश' के पंचम उल्लास में ध्वनि के सभी भेदों में 'वस्तु', 'अलंकार' और 'रस' रूप अर्थों को व्यंग्य सिद्ध किया गया है। अभिधामूलक ध्वनि के दो भेद हैं (१) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और (२) संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का क्रम (होते हुए भी) प्रतीत नहीं होता। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का एक ही भेद है—रसध्वनि। 'रस' को आचार्य मम्मट व्यंग्य ही मानते हैं, वह कथमपि वाच्य (स्वप्न में भी) नहीं हो सकता।[1] यदि रसरूप अर्थ वाच्य हो तो 'रसादि' शब्द द्वारा अथवा रस विशेष के वाचक 'शृंगारादि' शब्दों के प्रयोग से रसरूप अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु 'रस' अथवा 'शृंगारादि' शब्दों के प्रयोग से रस प्रतीति नहीं होती। 'विभावादि' के प्रयोग से ही रस की प्रतीति होती है। 'रस' अथवा 'शृंगारादि' शब्दों का प्रयोग न भी हो और विभावादि का प्रयोग हो तो रस-रूप अर्थ

१. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः, काव्यप्रकाश पं० उल्लास, पृ. २१७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्यञ्जित होता है। अन्वय-व्यतिरेक[1] सम्बन्ध से यह सिद्ध है कि विभावानुभावसंचारिमुखेन ही रस प्रतीति संभव है। यदि विभावादि का प्रयोग हुआ है तो रस प्रतीति भी होगी, यह अन्वय-व्याप्ति हुई, यदि विभावादि का प्रयोग नहीं है तो रस प्रतीति भी नहीं होगी, यह व्यतिरेक-व्याप्ति है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि विभावानुभावसंचारिमुखेन ही रस प्रतीति संभव है।

अतः रस व्यंग्य ही है।[2] इस प्रकार रस की वाच्यता का निषेध होता है, परन्तु रस के लक्ष्यार्थ होने की शंका तो शेष रह ही जाती है। इस शंका का निवारण आचार्य मम्मट ने कर दिया है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ बाधादि तीन शर्तें अनिवार्य हैं परन्तु रस प्रतीति में इनमें से एक भी शर्त पूर्ण नहीं होती—न तो इसमें विभावादि के अर्थ में बाध होता और न मुख्यार्थ से संबन्धित किसी अन्य अर्थ की प्रतीति ही होती। इस प्रक्रिया में न कोई रूढ़ि ही है और न प्रयोजन ही दिखलाई पड़ता। अतः रस लक्षणीय भी नहीं है।[3]

इसके उपरान्त आचार्य मम्मट को अभिधामूलक ध्वनि के अन्य भेदों को चर्चित करना अपेक्षित था, परन्तु इस प्रसंग की दीर्घता के कारण पहले लक्षणामूलक ध्वनि के भेदों में व्यञ्जना की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है। लक्षणामूला ध्वनि में वाच्यार्थ के दो रूप हो सकते हैं, या तो वह अर्थान्तर में संक्रमित हो जाय अथवा अत्यन्त तिरस्कृत होकर अन्य ही अर्थ की प्रतीति कराये। इसी आधार पर लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद हैं। प्रथम अर्थान्तरसंक्रमित और द्वितीय अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।[4] इनमें से प्रथम में वाच्यार्थ प्रकरण के विमर्श से अनुपयुक्त प्रतीत होता है, अतः वह अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है, द्वितीय में वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होता है और अन्य ही अर्थ की प्रतीति कराता है। इसमें वाच्यार्थ पूर्णतया तिरस्कृत होता है, इसीलिये इसे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य कहा गया है। इन दोनों ही ध्वनिरूपों में प्रयोजन विशेष व्यंग्य होता है। प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा अथवा अभिधा से नहीं होती। अभिधावृत्ति से शब्द का संकेतित अर्थ ही ग्रहण किया जा सकता है परन्तु लाक्षणिक शब्द का प्रयोजन रूप अर्थ में संकेतग्रह नहीं होता।[5] उदाहरणार्थ 'गंगायां घोषः' में 'शीतत्व', 'पावनत्व' प्रयोजन हैं पर इन प्रयोजन रूप अर्थों में गंगादि

---

१. तस्य प्रतिपत्तोश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते पृ. २१७

२. तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव.........पृ. २१७

३. मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः.........पृ. २१७

४. अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥ काव्यप्रकाश च० उल्लास पृ. ९१
,, द्वि० ,, पृ. ७०

५. नाभिधा [illegible]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्दों का संकेतग्रह नहीं है। इसलिये अभिधावृत्ति द्वारा प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती।

पुनः लक्षणा द्वारा भी प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती। लक्षणा के लिये मुख्यार्थ बाधादि तीन हेतु आवश्यक हैं, उन हेतुओं का अभाव होने से इसमें लक्षणा भी नहीं हो सकती।[1] आचार्य मम्मट ने अत्यन्त युक्तिपूर्वक प्रयोजन की प्रतीति में लक्षणा के कारणत्व का निषेध किया है। युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) लक्ष्यं न मुख्यम्[2]—यदि प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माने तो उससे पूर्व उपस्थित होने वाले अर्थ को मुख्यार्थ मानना होगा। पर ऐसा संभव नहीं है। 'गंगायां घोषः' इस उदाहरण वाक्य में शीतत्वपावनत्वादि प्रयोजन है। यदि इस प्रयोजन रूप अर्थ को लक्ष्यार्थ मानें तो इससे पूर्व उपस्थित होने वाले 'तट' रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना होगा। परन्तु 'गंगायां घोषः' वाक्य में 'तट' रूप अर्थ मुख्यार्थ नहीं है। वह तो लक्ष्यार्थ है इसीलिये कहा 'लक्ष्यं न मुख्यम्' अर्थात् लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ नहीं हो सकता।

(२) योगः फलेन नो—यदि 'शीतत्व,' 'पावनत्व' रूप प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माना ही जाय तो 'तट रूप' मुख्यार्थ (कल्पित) के साथ उसका योग होना चाहिये। परन्तु 'शैत्य' पावनत्व का सम्बन्ध तो गंगाप्रवाह के साथ है तट के साथ नहीं, अतः यह हेतु भी नहीं बनता इसलिये प्रयोजनको लक्ष्यार्थ कहने में बाधा है।

(३) नाप्यत्र बाधः—प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में एक कठिनाई यह भी है कि तटरूप अर्थ का बाध होना चाहिये क्योंकि प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में तट रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना ही होगा, अतः इसका बाध होना आवश्यक है, यदि प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानें, पर तट रूप अर्थ का बाध नहीं होता। इसलिये भी प्रयोजन लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता।

(४) न प्रयोजनमेतस्मिन्—लक्षणा का कोई प्रयोजन होता है। यदि 'शीतत्व', 'पावनत्व' को लक्ष्यार्थ मानें तो फिर इसका कोई प्रयोजन चाहिये। उस प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ मानने पर पुनः प्रयोजन की अपेक्षा होगी, इस प्रकार प्रयोजन श्रृङ्खला का कोई अंत ही न होगा।

(५) न च शब्दः स्खलद्गतिः—'शैत्य' 'पावनत्व' आदि के बोधन में गंगादि शब्द स्खलद्गति (बाधित) भी नहीं हैं। अतः प्रयोजन रूप अर्थ लक्ष्यार्थ नहीं है, इसलिये इसकी प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती।

---

१. हेत्वभावान्न लक्षणा ,, ,, पृ. ७१

२. लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः॥ काव्यप्रकाश ,, पृ. ७२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अब 'शीतत्व' 'पावनत्व' रूप 'प्रयोजन' की प्रतीति में ये विकल्प और हो सकते हैं। व्यञ्जनाविरोधी यह कह सकते हैं कि लक्ष्यार्थ बोध के साथ शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनों की प्रतीति भी हो जाती है, अतः प्रयोजन की प्रतीति के लिये पृथक से व्यंजना व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य मम्मट ने इस धारणा का खंडन करने के लिये कहा है—

'प्रयोजनसहित लक्ष्यार्थ मानना युक्तिसंगत नहीं है।'[1]

अपनी बात के प्रमाणस्वरूप आचार्य मम्मट ने मीमांसा और न्याय दर्शनों की प्रामाण्य-निरूपण-प्रक्रिया का आश्रय लिया है। दोनों ही दार्शनिक मत ज्ञान के विषय और ज्ञान के फल को पृथक् पृथक् मानते हैं परन्तु इस परिणाम तक पहुँचने में दोनों दर्शनों की प्रक्रियाएँ भिन्न हैं। उनका विवेचन यहाँ प्रसंग प्राप्त है।

ज्ञान के विषय और ज्ञान का फल विषयक मीमांसामत—मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। स्वतः प्रामाण्य का लक्षण है—'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्व स्वतस्त्वम्'[2] अर्थात् जिस सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता है उससे अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा प्रामाण्यग्रहण के लिये नहीं होती। इस प्रकार मीमांसक मत में ज्ञान ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री एक ही है और यह सामग्री है 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्तिः'।

मीमांसकों के मतानुसार 'अयं घटः' इस ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' नामक एक धर्म उत्पन्न होता है। यह 'ज्ञातता' नामक धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद उत्पन्न हुआ है। अतः 'अयं घटः,' यह ज्ञान 'ज्ञातता' नामक धर्म का कारण है। 'ज्ञातता' की प्रतीति 'ज्ञातो मया घटः' (मैंने घड़े को जान लिया) इस रूप में होती है। 'अयं घटः' इस ज्ञान का ग्रहण ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति जन्य अर्थापत्ति से होता है। अर्थात् जब कारण रूप (अयं घटः) ज्ञान ही नहीं है तो 'ज्ञातता' धर्म कैसे होगा। इस प्रकार 'ज्ञातता' की उपपत्ति सिद्ध नहीं होती। 'ज्ञातता' धर्म की इस अनुपपत्ति को अन्यथा करने के लिये यह मानना होगा कि 'अयं घटः' यह ज्ञान रूप कारण है। इस प्रकार ज्ञातता धर्म की अन्यथानुपपत्ति प्रसूता अर्थापत्ति से 'ज्ञान' का ग्रहण होता है। उस ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण भी इसी 'ज्ञाततान्यथानुपपत्ति-प्रसूता अर्थापत्ति' से होता है। इस प्रकार ज्ञान की सामग्री और प्रामाण्यग्रह की सामग्री एक ही 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' होने से यह मत स्वतः प्रामाण्य-वादी कहलाता है।[3] इस मत में ज्ञान का विषय 'घट' और उसका ज्ञान (फल) पृथक्-पृथक् हैं।

१. 'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते'.....'काव्यप्रकाश द्वि. उ. पृ. ७५
२. तर्कभाषा आ० विश्वेश्वर पृ.१३१
३. ,, ,, ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नैयायिकों के मतानुसार ज्ञान ग्राहक सामग्री और उसका प्रामाण्य ग्राहक सामग्री भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये नैयायिक मत को परतः प्रामाण्यवादी कहते हैं। ज्ञान ग्राहक सामग्री 'अनुव्यवसाय' है और प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति के साफल्य अथवा वैफल्यमूलक अनुमान से होता है।[1] नैयायिक प्रथमतः 'अयं घटः' इस ज्ञान को मानते हैं फिर इस ज्ञान से 'घटज्ञानवानहम्' इस रूप में 'अनुव्यवसाय' की उत्पत्ति मानते हैं। ज्ञान के बाद होने से इसे अनुव्यवसाय कहा है। नैयायिकों का अनुव्यवसाय आत्मा में रहने वाला धर्म है। परन्तु नैयायिक भी ज्ञान के विषय 'घट' और ज्ञान के फल को पृथक्-पृथक् मानते हैं।

लक्षणा के प्रसंग में लक्षणा से जिस विषय का ज्ञान होता है, वह है तट और इस ज्ञान का फल है 'शीतत्व'—'पावनत्व' की प्रतीति। अतः ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल पृथक् पृथक् होता है, इसलिए प्रयोजन विशिष्ट लक्षणा नहीं मानी जा सकती। मम्मटाचार्य के शब्दों में

'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्'[2]

अर्थात् ज्ञान का विषय अन्य और उसका फल अन्य ही कहा गया है। प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का विषय नीलपीतादि हैं और उनका फल मीमांसकों के अनुसार प्रकटता (ज्ञातता) तथा नैयायिकों के अनुसार अनुव्यवसाय।[3]

अतः जो लोग यह कहते हैं कि व्यञ्जना को पृथक् से मानने की आवश्यकता नहीं है, लक्ष्यार्थ के साथ ही अथवा प्रयोजनविशिष्ट लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, वह तर्क संगत नहीं है। इसलिए विशिष्ट में लक्षणा नहीं हो सकती—

'विशिष्टे नैवं लक्षणा'[4]

तटादि में जो 'पावनत्व' 'शीतत्व' आदि विशेष हैं वे अभिधा, लक्षणा, तात्पर्यादि से व्यतिरिक्त व्यापारगम्य है। वह व्यापार, 'ध्वनन', 'व्यंञ्जन', 'द्योतन' आदि शब्दों से वाच्य है और उसे मानना ही चाहिये।[5]

---

१. तर्क भाषा आ० विश्वेश्वर पृ. १३४
२. काव्यप्रकाश, पृ. ७६
३. प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा……काव्यप्रकाश, पृ. ७६
४. काव्यप्रकाश ,,
५. तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यंजन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम्,……का. प्र. द्वि. उ. पृ. ७६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अतः लक्षणामूला ध्वनि के दोनों भेदों में जो प्रयोजन विशेष होता है वह व्यंग्य ही है। प्रयोजन व्यंग्य है इसीलिये इन दोनों ध्वनिरूपों में लक्षणाप्रवृत्त होती है। व्यंग्य प्रयोजन के अभाव में लक्षणा ही न हो सकेगी। अतः वस्तुरूप अर्थ की प्रतीति भी व्यंजना से ही होगी।[1]

अभिधामूला संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि में व्यंजना—अभिधामूलक ध्वनि के प्रमुख दो भेदों में से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रस) को व्यंग्य सिद्ध किया जा चुका है। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के तीन भेद शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ में क्रमशः व्यंजना का प्रतिपादन प्रसंग प्राप्त है।

शब्दशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि वहाँ होती है जहाँ प्रकरणादि अभिधा-नियामकों द्वारा शब्द एकार्थ में नियंत्रित हो जाता है। अतः अभिधार्थ तो नियंत्रित है, इसके पश्चात् भी जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह निश्चय ही अभिधार्थ नहीं कहा जा सकता। वह लक्ष्यार्थ भी नहीं है। तब वह व्यंग्यार्थ ही है और उसकी प्रतीति व्यंजना द्वारा ही संभव है (शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभि-धेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यंग्यत्वम्।)

न केवल अर्थ वरन् वाच्यार्थ और प्राकरणिक अर्थ में जो उपमानोपमेय भावादि की प्रतीति होती हैं वह भी निर्विवाद रूप से व्यंग्य ही है।

इस प्रकार शब्दशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि में व्यंजना द्वारा ही अर्थ और अलंकार रूप अर्थ की प्रतीति का प्रतिपादन हुआ।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता—संलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में वाच्यार्थ पहले उपस्थित होता है तदनन्तर इस वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। वाच्य से वाच्यार्थ कैसे निष्पन्न होता है, इस विषय में मीमांसक अधिकारी माने जाते हैं। अतः मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद की आलोचना से आचार्य मम्मट ने इस प्रसंग को प्रारंभ किया है।

'अभिहितान्वयवाद' में व्यंग्यार्थ की अभिधेयता का अनवसर—'अभिधा' शक्ति से शब्द का संकेतिक अर्थ ज्ञात होता है। संकेतग्रह किसमें हो? इस प्रश्न पर भी दार्शनिकों में मतभेद है। मीमांसक, नैयायिक, बौद्धादि संकेतग्रह के आधार के संबंध में एकमत नहीं हैं।

मीमांसक जाति में संकेतग्रह मानते हैं क्योंकि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से 'आनन्त्य' और व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि व्यक्ति में संकेतग्रह माना

---

१. अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतावाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यंग्यं विना लक्षणैव न भवतीति—का० प्र० उ० पृ० २१७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जाय तो शब्द से उसी व्यक्तिविशेष की उपस्थिति होगी जिसमें शब्द का संकेतग्रह माना गया है। अतः भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रतीति के लिये भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् संकेतग्रह मानना होगा। इस प्रकार अनंत संकेतग्रह मानने में अनंतशक्तियों की कल्पना करनी होगी। जैसे 'गो' कहने से 'गो' मात्र का बोध होता है, यदि 'गो' शब्द का संकेतग्रह किसी व्यक्ति 'गो' में हुआ तो 'गो' शब्द से उस विशिष्ट 'गो' का ही बोध होगा और तब अनन्त 'गो' के लिये अनंत शब्द होंगे और अनंत संकेतग्रह के लिये अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार 'आनन्त्य' दोष होगा।

इस 'आनन्त्य दोष' के परिहार हेतु दो-चार व्यक्तियों में संकेतग्रह करलें और शेष का ज्ञान वैसे ही बिना संकेतग्रह के माना जाय तो संकेतग्रह की मूल धारणा ही समाप्त हो जाती है और इसे व्यभिचार दोष कहेंगे क्योंकि नियम यह है कि संकेत-ग्रह की सहायता से ही शब्द अर्थ का बोध कराता है। यदि बिना संकेतग्रह के ही शब्द अर्थ की प्रतीति कराता है तो नियमानुसार न होने से इसे 'व्यभिचार दोष' कहा जायगा। इसलिये 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह मानना अनुपयुक्त होगा। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर महाभाष्यकारकृत चतुर्धा शब्द विभाजन (जाति शब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द) भी संभव न हो सकेगा।

मीमांसक केवल जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं। उनके मतानुसार गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसंधान किया जा सकता है, अतः जाति को ही संकेतग्रह का आधार मानना संगत है।

अनुगत प्रतीति के कारण को 'सामान्य' अथवा 'जाति' कहते हैं।[1] अनुगत प्रतीति का हेतु-गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में भी पाया जाता है। जैसे दूध, बरफ, शंख आदि में शुक्लत्व सामान्य की प्रतीति, गुण में जाति का अनुसंधान है। 'ओदन', दाल, गुड आदि में 'पाकत्व' सामान्य की प्रतीति क्रिया में 'जाति' का आधान है। यदृच्छा शब्द विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा बोला जाता है इसलिये तथा जिस अर्थ की प्रतीति कराता है, वह भी परिणाम नैरन्तर्य के कारण भिद्यमान होता रहता है, तब भी उस अर्थ में सामान्यत्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार यदृच्छा शब्द में 'जाति' की स्थिति होती है। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार यदृच्छा शब्दों में जाति के अनुसंधान की व्याख्या इस प्रकार है—

'मीमांसकों ने उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के भेद से शब्दों और प्रतिक्षण होने वाले वृद्धि या ह्रास रूप परिवर्तन के आधार पर व्यक्तियों में भेद की कल्पना की है। अर्थात् बाल-वृद्ध-शुक आदि द्वारा उच्चारण किये जाने वाले 'डित्थ' या देवदत्त आदि

---

१. 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्'

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एक व्यक्तिवाचक शब्द व्यक्तियों में अनेकत्व मानकर उनमें अनुगत प्रतीति करानेवाली 'डित्थत्व' आदि जाति की कल्पना की जा सकती है'।[1]

अभिहितान्वयवाद में अभिधा द्वारा पदार्थ सामान्य की उपस्थिति होती है। इसके उपरांत आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा उनका अन्वय होता है। आकांक्षा वक्ता का तात्पर्य रूप है। अतः पदार्थों का अन्वय वक्ता के तात्पर्यानुसार होता है इसीलिये वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं और उसे तात्पर्य शक्ति द्वारा निष्पन्न मानते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिहितान्वयवाद में वाक्यार्थ अभिधा द्वारा प्रतीत नहीं होता। जब वाक्यार्थ ही अभिधेय नहीं है तो व्यंग्यार्थ—जिसकी प्रतीति वाक्यार्थ के भी अनन्तर होती है—की अभिधेयता का प्रश्न नहीं उठता। आचार्य मम्मट के अनुसार–

'विशेष में संकेत करना जहां संभव नहीं है (और) जातिरूप (सामान्यरूपाणाम्) पदार्थों का (पदार्थानाम्) परस्पर संसर्गरूप विशेष अर्थ (परस्परसंसर्गो-विशेष रूपो वाक्यार्थः) स्वयं पदों से उपस्थित न होकर (अपदार्थोऽपि) आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण उपस्थित होता है, उस अभिहितान्वयवाद में व्यंग्यार्थ की अभिधेयता की बात ही क्या है ?'[2]

इसका आशय यह हुआ कि मीमांसकों के अनुसार व्यक्ति (विशेष) में संकेतग्रह नहीं किया जा सकता और अभिधा से अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं, वाक्यार्थ पदार्थों से उपस्थित न होकर आकांक्षा, योग्यतादि के कारण होता है। जब वाक्यार्थ ही अभिधा से उत्पन्न नहीं होता तो वाक्यार्थ के भी पश्चात् प्रतीयमान अर्थ अभिधेय अथवा वाच्यार्थ कैसे हो सकता है। अतः अभिहितान्वयवाद में भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये पृथक् व्यापार (अभिधा से भिन्न) मानना होगा और व्यञ्जना व्यापार है।

अन्विताभिधानवाद में व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं हो सकता। अन्विताभिधानवाद के प्रसंग आचार्य मम्मट ने 'संकेतग्रह के आधार' से प्रारंभ किया है। संकेतग्रह के आठ आधार कहे गये हैं---(१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोश, (४) आप्त-वाक्य, (५) व्यवहार, (६) विवृति, (७) वाक्यशेष, (८) सिद्धपद का सान्निध्य।[3] इनमें व्यवहार प्रमुख है। विशेषतः बालक के लिये व्यवहार ही उपयुक्त

---

१. काव्यप्रकाश—आ० विश्वेश्वर, पृ० ४८

२. अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामा-कांक्षायोग्यतासन्निधिवशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्रा-भिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्······का. प्र. पं. उ. पृ. २१९.

३. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है, क्योंकि अन्य में प्रयोग और अर्थज्ञान की अपेक्षा है। इसीलिये आचार्य मम्मट ने 'व्यवहार' के सम्बंध में कहा है----

येऽप्याहुः----

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणैव पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥ १ ॥

[बालक] वृद्ध [शब्द] तथा अभिधेय [क्रिया] आदि को प्रत्यक्ष से देखता है। [सुनता है, 'पश्यति' में 'शृणोति' का अध्याहार करना होगा, क्योंकि क्रिया तो देखी जा सकती है, शब्द नहीं, अतः प्रत्यक्ष में देखना और सुनना दोनों समझने चाहिये] श्रोता [मध्यम वृद्ध, सेवकादि] चेष्टा से उसके [श्रोता के, श्रोतुः] ज्ञान का अनुमान करता है।

अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्ति द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्त्याऽवबोधेन सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ २ ॥[1]

[तब वह बालक] अन्यथानुपपत्ति [उत्तम वृद्ध द्वारा कहे गये वाक्य और मध्यम वृद्ध द्वारा समझे गये अर्थ में वाचक-वाच्य संबंध है, यदि ऐसा न होता तो वह उस वाक्य के अनुसार क्रिया कैसे करता ? अतः वाचक-वाच्य संबंध है, ऐसी] जन्य अर्थापत्ति से [वह बालक, वाचक-वाच्य रूप दो प्रकार की] द्वयात्मिका शक्ति को जानता है। इस प्रकार [प्रत्यक्ष, अनुमान, और अर्थापत्ति] तीन प्रमाणों से संबंध को पहचानता है। क्योंकि 'व्यवहार' बालक के लिये होता है, अतः उपर्युक्त दोनों श्लोकों में कर्ता 'बालक' माना गया है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'उत्तमवृद्ध' पिता आदि ने देवदत्त से कहा, 'देवदत्त, गाय लाओ' तब देवदत्त [मध्यम वृद्ध] सास्नादिमान अर्थ [गाय] को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाता है।' इस प्रक्रिया के होने पर अर्थात् उत्तम वृद्ध के कहने पर और उस कथन के फलस्वरूप देवदत्त के द्वारा गाय लाये जाने को देखकर, देखने वाला बालक जान लेता है कि इस 'देवदत्त' ने उत्तमवृद्ध के कथन का यह अर्थ समझा, यदि अर्थ न समझता तो क्रिया कैसे करता ? अतः उत्तमवृद्ध के वाक्य में और देवदत्त द्वारा समझे गये अर्थ में वाचक-वाच्य भाव संबंध है। यह वह उत्तमवृद्ध के वाक्य की अन्यथानुपपत्ति-जन्य अर्थापत्ति से समझ लेता है।

इस प्रक्रिया में बालक उत्तमवृद्ध के शब्द और देवदत्त की क्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण से देखता है। उत्तमवृद्ध के वाक्य के देवदत्त द्वारा समझे गये अर्थ को देवदत्त की क्रिया

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. काव्यप्रकाश प. उ. पृ. २२२.

देखकर अनुमान से जान लेता है। उस वाक्य और अर्थ के वाचक-वाच्य भाव को अर्थापत्ति से समझता है। इस प्रकार तीन प्रमाणों से वाक्यार्थ को समझ लेता है। पर यह समझना अखंड वाक्य के अखंड अर्थ के रूप में है।

पुन: 'चैत्र [किसी व्यक्ति का नाम] गाय ले जाओ,' 'अश्व लाओ' आदि इस प्रकार के प्रयोग वाक्यों में 'उस' 'उस' शब्द का 'वह' 'वह' अर्थ है, ऐसा समझता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से प्रवृत्ति करने वाला वाक्य ही प्रयोग के उपयुक्त है। आशय यह है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति कराये वह वाक्य है, जो ऐसा न कराये, वाक्य नहीं है—प्रयोग के उपयुक्त नहीं है।

वाक्य में स्थित अन्वितपदों का ही अन्वितपदार्थों के साथ संकेतग्रह होता है।[1] अर्थात् 'गामानय' उदाहरण में 'आनय' 'गाम्' के साथ अन्वित है और दोनों का संकेतग्रह अन्वित पदार्थों के साथ ही है। 'गामानय' वाक्य के 'आनय' का अन्वय 'अश्व' के साथ नहीं हो सकता। जब 'अश्वमानय' कहा जायगा तब 'आनय' का अन्वय 'अश्व' के साथ होगा।

अतः परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ है।[2]

पहले से अनन्वित पदार्थों का बाद में होने वाला अन्वय वाक्यार्थ नहीं है [जैसा कि अभिहितान्वयवादियों का मत है।][3] अन्विताभिधानवादियों के अनुसार परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होते हैं।

इस प्रसंग में यह समस्या उत्पन्न होती है कि एक शब्द अनेक वाक्यों में प्रयुक्त होता है, यदि शब्द का अन्वय व्यक्तिविशेष से स्वीकार कर, एक अर्थ के साथ अन्वित में शक्तिग्रह मानें तो अन्य वाक्यों में प्रयुक्त होने पर इस शब्द से अर्थ प्रतीति न हो सकेगी। अतः विशेष अर्थ के साथ अन्वित में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता, सामान्य के साथ अन्वित अर्थ में ही संकेतग्रह मानना होगा।

इस प्रकार अन्विताभिधानवाद के अनुसार सामान्य से अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होगा। परन्तु वाक्यार्थ तो विशेष अर्थों का परस्पर संबंध रूप होता है, सामान्य अर्थों का परस्पर संबंध रूप नहीं। अतः विशेष अर्थों का परस्पर संबंध रूप वाक्यार्थ अन्विताभिधानवाद के अनुसार वाच्यार्थ नहीं है। सामान्य अर्थों का परस्पर संबंध ही वाच्यार्थ है। उपर्युक्त समस्या का समाधान मीमांसक 'निर्विशेषं न सामान्यम्' से करते हैं।

'निर्विशेषं न सामान्यम्'—

---

१. वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव संकेतो गृह्यते—का. प्र. पं. उ. पृ. २२४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ,, ,,

इस कथन के अनुसार विना विशेष के कोई सामान्य रह ही नहीं सकता। इसलिये सामान्य रूप से अन्वित अर्थ का पर्यवसान भी विशेष में होता है। आचार्य मम्मट ने इस मत को निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया है—

"वाक्यान्तर में प्रयुक्त होने पर प्रत्यभिज्ञा ज्ञान से यह निश्चित हो जाता है कि 'वही' 'वही' पद हैं, अतः पदार्थ सामान्य के साथ ही अन्वित अर्थ में संकेतग्रह होता है। तब भी परस्पर संबद्ध पदार्थों के (व्यतिषिक्तानां पदार्थानाम्) विशेष रूप होने से (तथाभूतत्वाद्) सामान्य से अवच्छादित होने पर भी वह (संकेतग्रह) विशेषरूप (में) ही हो जाता है, यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।"[1]

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—'वाक्य में अन्वित पदार्थ सामान्य नहीं होते, अतः विशेष के साथ अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानने में कोई हानि नहीं है।'[2]

इसका आशय यह हुआ कि अन्विताभिधानवाद में सामान्य से अवच्छादित विशेष संकेतग्रह का विषय होता है। अतः वाक्यार्थ के अन्तर्गत जो 'अति विशेष' अर्थ है वह असंकेतित ही रहा और असंकेतित होने से अवाच्य भी।[3] क्योंकि साक्षात् संकेतित अर्थ को बतलाने वाला उस अर्थ का वाचक होता है और संकेतित अर्थ इसका वाच्य।[4] 'अति विशेष' अर्थ में संकेतग्रह नहीं है, अतः वह वाच्य भी नहीं है। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थ बोध के भी पश्चात् प्रतीत होने वाले 'निःशेषच्युत……' आदि उदाहरणों में निषेध से विधिपरक अर्थ की प्रतीति के वाच्यार्थ होने की बात असम्भव ही है।

अतः विशेष अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ, अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों में ही अभिधा द्वारा प्रतीत न हो सकने से अवाच्य है।

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्य क्रम व्यंग्य में, जैसा हम पहले संकेत कर चुके है, प्रथमतः वाच्यार्थ की प्रतीति होती है तदनन्तर व्यंग्यार्थ की। जब मीमांसकों के उपर्युक्त दोनों मतों में वाक्यार्थ की ही प्रतीति अभिधेय नहीं है, वाच्य नहीं है, तब व्यंग्यार्थ

---

१. यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः संकेतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषिक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः पं. उ. पृ. २२५

२. काव्यप्रकाश………आ० वि० पृ. २२५

३. इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा……का प्र.पं. उ.पृ. २२६

४. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः का. प्र. द्वि. उ. पृ. ४२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाच्य कैसे हो सकता है। इसलिये व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है और उसकी प्रतीति के लिये 'व्यञ्जना' माननी होगी।

मीमांसक अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति को नहीं मानते। मीमांसकों के लिये वेद ही सब कुछ हैं और वेदों में एकमात्र वाच्यार्थ ही ग्रहण किया जाता है। मुकुल भट्ट ने तो अभिधा में ही लक्षणा का पर्यवसान दिखाने के लिये 'अभिधावृत्तिमात्रिका' ग्रन्थ लिखा। व्यञ्जना के विरोध में कतिपय अन्य मीमांसक—अनुयायियों के मत भी हैं। आचार्य मम्मट ने इन मतों की असंगतता सिद्ध की है। यहाँ उन मतों को क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते—(नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है।)—मीमांसकों की एक धारणा यह भी है। मीमांसकों का पूर्वपक्ष इस प्रकार है—

व्यञ्जनावादी जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं, उसका आधार भी शब्द ही है, अतः शब्द उस अर्थ का निमित्त हुआ और वह अर्थ नैमित्तिक। इस प्रकार व्यञ्जनावादियों के तथाकथित व्यंग्यार्थ और शब्द में नैमित्तिक-निमित्त भाव संबंध है। नैमित्तिक और निमित्त का यह संबंध बिना किसी शक्ति के नहीं हो सकता, अतः यह शक्ति अभिधा ही हो सकती है, क्योंकि शब्द में अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति अभिधा है। इसलिये जिसे व्यंग्यार्थ कहा गया है, उसकी प्रतीति भी अभिधा से ही जाती है, व्यंजना की कल्पना व्यर्थ है।

आचार्य मम्मट का उत्तरपक्ष निम्नलिखित है—

मीमांसकों ने शब्द को निमित्त कहा है। निमित्त दो ही प्रकार के होते हैं[1]—

(१) कारक, (२) ज्ञापक।

शब्द नैमित्तिक-अर्थ के प्रति कारक निमित्त नहीं बन सकता, क्योंकि शब्द केवल प्रकाशक है। इसलिये शब्द को यदि निमित्त कहें भी तो वह ज्ञापक निमित्त हो सकता है। परन्तु व्यंग्यार्थ असंकेतित अर्थ होने से अज्ञात अर्थ होता है। तब अज्ञात अर्थ में शब्द का ज्ञापकत्व भी कैसे होगा ?[2] ज्ञातत्व तो संकेतग्रह होने पर ही बनता है।[3] इस स्थिति में शब्द व्यंग्यार्थ का ज्ञापक निमित्त नहीं हो सकता।

यदि शब्द का व्यंग्यार्थ के प्रति निमित्तत्व मानना ही है तो शब्द का उस विशेष नैमित्तिक में संकेतग्रह मानना होगा, जब तक यह संभव नहीं, तब तक शब्द से उस विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं मानी जा सकती। इसलिये—

---

१. तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ?

२. अज्ञातस्य ज्ञापकत्वं कथम् ?

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

३. ज्ञातत्वं च संकेतेनैव।

"नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है।" यह उक्ति व्यंग्यार्थ और शब्द के प्रसंग में अविचारपूर्ण है । इस उक्ति का अभिप्राय है कि कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है। यह ठीक भी है, पर शब्द और व्यंग्यार्थ के संदर्भ में नहीं। मीमांसकों के अनुयायियों ने इसे व्यंग्यार्थ पर भी घटित किया है, जा असंगत है। आचार्य मम्मट की तर्क प्रक्रिया का इस प्रकार संक्षेपण किया जा सकता है—

(१) मीमांसकों के अनुसार सामान्य से अन्वित में संकेतग्रह है ।

(२) अतः व्यंग्यार्थ कहे जाने वाले अर्थ विशेष में संकेतग्रह नहीं हो सकता।

(३) संकेतग्रह के अभाव में शब्द उस अज्ञात अर्थ का ज्ञापक निमित्त नहीं बन सकता। 'ज्ञापकत्व' ज्ञात अर्थ का ही हो सकता है।

(४) अतः व्यंग्यार्थ नैमित्तिक नहीं है और शब्द निमित्त नहीं हो सकता। इसलिये यह युक्ति व्यंग्यार्थ-प्रसंग में असंगत है।

'रससूत्र' के प्रथम व्याख्यात भट्ट लोल्लट भी मीमांसक मतानुयायी हैं। अतः वे भी व्यंजना के विरोधी हैं। आचार्य मम्मट ने उनकी स्थापना का भी खंडन किया है।

भट्ट लोल्लट का व्यंजनाविरोधी पक्ष—(सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः)

लोल्लट सभी अर्थों की प्रतीति अभिधा के ही मानते हैं। इन्होंने अपने मत की पुष्टि में शास्त्रवाक्य प्रयुक्त किये हैं। भट्ट लोल्लट की युक्ति इस प्रकार है—

'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः'

इसमें 'अयम्' 'अभिधा व्यापार' के लिये प्रयुक्त है। इस युक्ति का अर्थ है 'यह अभिधा व्यापार बाण (इषु) सदृश दीर्घदीर्घतर है। जैसे एक ही बाण क्रमशः कवचच्छेदन, मर्मभेदन और प्राणहरण में समर्थ होता है, वैसे ही, वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य कहे जाने वाले सभी अर्थों की प्रतीति एक ही शक्ति अभिधा से हो जाती है, इसलिये अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार को मानने की आवश्यकता नहीं है। अपने मत के प्रमाण स्वरूप भट्ट लोल्लट ने शास्त्रवचन उद्धृत किया है— 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति ।

भट्ट लोल्लट के अनुसार इसका अर्थ है, 'जिस अर्थ के प्रति शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही उस शब्द का शब्दार्थ है। इसका आशय यह है कि जिसे व्यंग्यार्थ कहा जाता है, यदि उस अर्थ की प्रतीति के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है तो वही शब्द का शब्दार्थ कहलायेगा। इसी प्रकार जहाँ तथा कथित लक्ष्यार्थ कहे जाने वाले अर्थ की कामना से शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वह अर्थ ही वाच्यार्थ है। अतः लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि कहने की आवश्यकता नहीं है। सभी अर्थ वाच्यार्थ ही हैं। शब्द अर्थनिष्ठ है और जिस अर्थ के प्रति उसकी (शब्द की) निष्ठा है—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परता है (जिस अर्थ हेतु उसका प्रयोग किया गया है) वही अर्थ, उस शब्द का वाच्यार्थ है। 'निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं' श्लोक में वक्ता की विवक्षा विधिरूप अर्थ है---अतः यही अर्थ वहाँ वाच्यार्थ है। अर्थ की कामना से श्लोक कहा गया है।

वस्तुतः यह मत भी वक्ता के तात्पर्य तक सभी अर्थों को वाच्यार्थ प्रतिपादित करता है।

आचार्य मम्मट ने भट्ट लोल्लट की इस स्थापना का खंडन किया है। मम्मट के अनुसार 'लोल्लट ने जिस—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'--युक्ति का आश्रय लिया है, उसका सही अर्थ ही नहीं समझा। अपने ही शास्त्र की इस तात्पर्यवाची (यत्पर''' आदि) युक्ति का अर्थ न समझने वाले भट्ट लोल्लट को आचार्यमम्मट ने 'देवानांप्रिय' (मूर्ख) कहा है।

मम्मटाचार्य के अनुसार इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का अर्थ है, "जिस अप्राप्त अंश के बोधन में विधिवाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ होता है।" आचार्य लिखते हैं—

'सिद्ध (भूत) और साध्य (भव्य) के साथ-साथ उच्चारण किये जाने पर (भूतभव्यसमुच्चारणे) सिद्ध पदार्थ साध्य अर्थात् क्रिया के लिये उपदिष्ट होता है (भूतं भव्यायोपदिश्यते)। क्रिया पदों से अन्वित (क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः) कारक पदार्थ (कारकपदार्थाः) प्रधान क्रिया की संपादक (प्रधानक्रियानिर्वर्त्तक) अपनी क्रिया के संबंध से (स्वक्रियासंबंधात्) साध्यता को (साध्यायमानताम्) प्राप्त कर लेते हैं।[1] तदनन्तर अदग्धदहनन्याय से जो अप्राप्त होता है, उसी का विधान करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जैसे अग्नि अदग्ध का ही दहन करती है, वैसे ही विधि वाक्य प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ का ही बोधन कराते हैं। जैसे दग्ध का दहन नहीं होता वैसे ही प्राप्त का पुनः प्रापण क्या होगा ? इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये आचार्य मम्मट ने दो उदाहरण दिये हैं—

(१) 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह विधि वाक्य 'श्येनयाग' के प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है। कतिपय प्रधान याग होते हैं और कतिपय इन प्रधान यागों के अंगभूत, जिन्हें गौण याग कहते हैं। प्रधान यागों को प्रकृति और गौण यागों को विकृति याग भी कहते हैं। प्रकृति याग में, याग के सभी विधि विधानों

१. तथाहि- भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमाना प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्य क्रियाभिसंबंधात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते। का. प्र. प. उ. पृ. २३३.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का पूर्ण वर्णन किया जाता है[1] विकृति यागों में केवल उन्हीं बातों का वर्णन रहता है जो प्रकृति याग की अपेक्षा अधिक होती है, शेष विधान प्रकृतियागवत् ही होता है।[2]

'श्येनयाग' का प्रकृति याग 'ज्योतिष्टोम' है। ज्योतिष्टोम याग में ऋत्विक् प्रचरण के विषय में कहा है--'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति।' पुनः श्येनयाग में कहा है 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'। इसमें 'सोष्णीष' ऋत्विक् प्रचरण तो प्रकृति याग ज्योतिष्टोम के विधान से ही ज्ञात है। अतः 'लोहितोष्णीषा' यहाँ ऐसा अर्थ है जो प्रकृतियाग की अपेक्षा अधिक है और अप्राप्त था। इसलिये समस्त वाक्य का विधेय यह 'लाल उष्णीष' ही है। क्योंकि ऋत्विक् प्रचरण करते हैं, यह तो पूर्व से ज्ञात है, इसमें कोई नूतन बात नहीं है। ज्योतिष्टोम याग की अपेक्षा, श्येनयाग में जो अधिक बात है, वह यह कि ऋत्विकों के उष्णीष (पगड़ी) लाल रंग के होंगे। अतः 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य प्रचरण का बोध कराने के लिये नहीं वरन् लाल उष्णीष का बोध कराने के लिये है, यही प्रमाणान्तर से अप्राप्त था। इसलिये इसी अप्राप्त अंश के बोधन में इस विधिवाक्य का तात्पर्य है। और यही इसका विधेयांश है।[3] इसलिये तात्पर्यवाचोयुक्ति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः का यही अर्थ है कि जिस अप्राप्त अंश के बोधन के लिये विधिवाक्य का तात्पर्य होता' है, वही उसका प्रतिपाद्य अर्थ है, अतः वही विधेय भी।

(२) 'दध्ना जुहोति'--यह द्वितीय उदाहरण अग्निहोत्र प्रकरण में प्रयुक्त है, इसके पूर्व 'अग्निहोत्रं जुहोति' कहा जा चुका है। अतः हवन का विधान तो पहले से ही प्राप्त हैं। केवल साधन (करण, जिस पदार्थ से हवन किया जाय) 'वही' का विधान नवीन है, यह पहले से प्राप्त नहीं था, इसलिये 'दध्ना जुहोति' विधि वाक्य का विधेयांश यही है।[4] अतः जो विधेय है, उसी में तात्पर्य होता है।[5]

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का अर्थ स्पष्ट किया।

'उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे'---

परन्तु, जिस तात्पर्य की बात ऊपर कही गई है, वह तात्पर्य, वाक्य में प्रयुक्त शब्द के ही अर्थ में होगा। आशय यह कि तात्पर्य वाचक शब्द वाक्य में साक्षात् प्रयुक्त होना चाहिये। प्रतीतमात्र होने वाले अर्थ में तात्पर्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ 'पूर्वो धावति'[6] वाक्य लें, इस वाक्य का तात्पर्य 'पहले के दौड़ने में' ही है। और

---

१. 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः'

२. प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या

३. 'इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं'

४. 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्, हवनस्यान्यतः सिद्धेः'

५. ततश्च यदेवं विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

६. एवं हि 'पूर्वो धावति' इत्यादावपरार्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात् ?

इस तात्पर्य के वाचक दोनों शब्द साक्षात् उपात्त हैं। इसलिये तात्पर्य, वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही होता है; यथाकथञ्चित् प्रतीत होने वाले अर्थ में नहीं।

अनुपात्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य मानने से महान भ्रांति होगी। 'पूर्वो धावति' में 'पूर्व' शब्द सापेक्ष है, 'पूर्वः' के साथ 'अपरः' की भी प्रतीति होती है, क्योंकि 'अपरः' है तभी न 'पूर्वः' कहा गया है। यदि प्रतीत होने वाले अर्थ में भी तात्पर्य माना जाय तो 'अपरः' में भी तात्पर्य होने लगेगा, और 'पूर्वो धावति' का 'अर्थ अपरो धावति' भी होगा जो स्पष्ट ही असंगत है।

इसलिए, वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होगा, अनुपात्त शब्द के अर्थ में नहीं। इस तर्क का प्रस्तुत में प्रसंग यह है कि, तात्पर्य, उपात्त शब्द के अर्थ में ही होता है और व्यंग्यार्थ का वाचक कोई शब्द वाक्य में उपात्त होता नहीं, अतः व्यंग्यार्थ में तात्पर्य हो नहीं सकता। धनंजय-धनिक ने व्यंग्यार्थ का समावेश तात्पर्य में किया था। इस प्रकार की धारणा का खंडन यहाँ आचार्य मम्मट ने किया है। तात्पर्यवादी यह भी सिद्ध करते हैं कि अनुपात्त शब्द के अर्थ में भी तात्पर्य हो सकता है और उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित वाक्य प्रस्तुत करते हैं—

'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'

इस वाक्य का अर्थ है 'विष खालो, पर इसके घर भोजन मत करो।' और इसका तात्पर्य है, 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिये।' तात्पर्यवादियों के अनुसार इस तात्पर्य को ग्रहण कराने वाला कोई शब्द वाक्य में उपात्त नहीं है। इसलिये यह तात्पर्य अनुपात्त शब्द के अर्थ में है।

आचार्य मम्मट यहाँ भी उपात्त शब्द के ही अर्थ में तात्पर्य मानते हैं। 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः,' एक वाक्य है, इसमें प्रयुक्त 'च' कार एकवाक्यता सूचक है। इस वाक्य का तात्पर्य 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिये' यह 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस उपात्त शब्द के ही अर्थ में है। अतः यहाँ भी उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य है, अनुपात्त शब्द के अर्थ में नहीं।

तात्पर्यवादी 'विषं भक्षय…' आदि को एक वाक्य नहीं मानते। क्योंकि दो क्रिया पदों से युक्त वाक्यों का परस्पर अङ्गांगिभाव नहीं हो सकता।[1] विषं भक्षय आदि वाक्य में दो, 'भक्षय' और 'भुङ्क्थाः' क्रियाएँ हैं। अतः ये दो वाक्य हैं, एक नहीं। इसलिये तात्पर्य उपात्त शब्द के अर्थ में नहीं है।

मम्मटाचार्य के अनुसार 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः', मित्र के द्वारा कहा हुआ वाक्य है। यदि 'विषं भक्षय' को स्वतंत्र वाक्य मानें तो इसका अर्थ अनुपपन्न

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभावः,

होगा। क्योंकि कोई भी मित्र 'विष खालो' यह कैसे कहेगा ? अतः 'विषं भक्षय' के स्वतंत्र अर्थ के अनुपपन्न होने से, इसकी आगे आने वाले वाक्य से अंगता माननी होगी। तब 'विषं भक्षय' और 'मा चास्य गृहे भुंक्थाः' में अङ्गांगिभाव होने से इनकी एकवाक्यता होगी। इस स्थिति में इस पूरे वाक्य का तात्पर्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस उपात्त शब्द के ही अर्थ में है।[1] इसलिये यह सिद्ध हुआ कि तात्पर्य सदैव वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही होता है।

भट्ट लोल्लट ने सभी अर्थों को वाच्य कहा था। इसका अंतिम उत्तर देते हैं आचार्य मम्मट कि सभी अर्थ यदि अभिधागम्य हैं तो मीमांसक लक्षणा भी क्यों मानते हैं ? लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार से ही हो जायगी।[2] तथा 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः' वाक्य सुनने से उत्पन्न हर्ष और 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' को सुनने से उत्पन्न शोक को भी वाच्य ही क्यों न माना जाय ? क्योंकि भट्ट लोल्लट सभी अर्थों को वाच्य मानते हैं। पर यह व्यवहारतः अनुपयुक्त है।

मीमांसा से ही प्रमाण उद्धृत करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं, शब्द के अर्थ प्रतीति में पौर्वापर्य तो मीमांसकों ने भी माना है। यदि सभी अर्थ अभिधागम्य हैं तो पौर्वापर्य नहीं बनेगा। तथा श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या, आदि में जो बलाबल का निर्णय है, वह भी संभव नहीं होगा। मीमांसा के अनुसार एक ही वाक्य में अर्थनिर्णय के लिये यदि एकाधिक प्रमाण प्रयोग की आवश्यकता हो तो पूर्व-पूर्व प्रमाण को प्रबल और उत्तर-उत्तर प्रमाण को दुर्बल समझना चाहिये। अर्थात् एक ही वाक्य में श्रुति-प्रमाण एक अर्थ बतलाये, और अन्यप्रमाण दूसरे अर्थ को, तो श्रुति प्रमाणजन्य अर्थ ही प्रमाणित अर्थ होगा। यह मीमांसा शास्त्र का वचन है। सभी अर्थ वाच्य मानने पर प्रामाणिकता—अप्रामाणिकता का प्रश्न ही क्या है। पर मीमांसा अर्थ प्रामाणिकता अप्रामाणिकता स्वीकार करता है, तभी प्रमाणों के बलाबल की बात कही गई है। अतः भट्टलोल्लट के अपने शास्त्र के अनुसार ही सभी अर्थ वाच्य नहीं हैं।

इस प्रकार मीमांसकों के दो प्रमुख सिद्धान्तों---अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद तथा मीमांसक अनुयायी तर्कों का खंडन कर आचार्य मम्मट ने वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता प्रतिपादित की।

---

१. विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति 'विक्षभक्षणादपि दुष्टमेतद्-गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्था इत्युपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम् ... पृ. २३६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. लक्षणीयस्याप्यर्थ दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः क्स्माच्च लक्षणा ?

अब कतिपय अन्य प्रमाणों से भी वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता और उसके अस्तित्व को सिद्ध किया जा रहा है—

(१) 'कुरु रुचिम्' इन दो पदों (कुरु और रुचिम्) के क्रम को पलट कर यदि 'रुचिंकुरु' लिखा जाय, तो चिंकु सुनाई पड़ने से इसमें अश्लीलता दोष होता है, क्योंकि 'चिंकु' का अर्थ योनि स्थित भगनासा है। परन्तु यह अश्लील अर्थ दोनों पदों में से किसी का भी वाच्यार्थ नहीं है। वाच्यार्थ न होने से, अभिधा द्वारा, इस अश्लीलार्थ की प्रतीति हो नहीं सकती। पर यह प्रतीति व्यवहारसिद्ध है। इसीलिये इस प्रकार के प्रयोग काव्य में वर्जनीय माने गये हैं। क्योंकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में कोई शर्त नहीं, वह शब्द से उसके अंशमात्र से, मात्रा से भी प्रतीत हो सकता है अतः 'रुचिंकुरु' में प्रतीत 'अश्लीलत्व' व्यंग्य ही है।

(२) नित्यानित्य दोष व्यवस्था—काव्यशास्त्र में दो प्रकार के दोष कहे गये हैं—
(क) नित्य दोष। (ख) अनित्य दोष।

यदि वाच्य-वाचक भाव से व्यतिरिक्त व्यंग्य-व्यञ्जक भाव नहीं माना जाता तो 'असाधुत्वादि' नित्य दोष और 'श्रुतिकटुत्व' आदि अनित्य दोष, यह नित्यानित्य दोष विभाजन अनुपपन्न होगा। परन्तु यह विभाजन तो अनुभव से प्रमाणित है। वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यंग्य-व्यञ्जक भाव का आश्रय लेने से तो व्यंग्य के बहुविध होने से किसी के कहीं औचित्य (और कहीं अनौचित्य) के कारण यह नित्यानित्य दोष विभाग व्यवस्था संभव होती है।[१] आचार्य विश्वेश्वर ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'व्यंग्य-व्यञ्जक भाव को अलग मानने पर व्यञ्जनावृत्ति से द्योत्य भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने के आधार पर नित्य-अनित्य दोषों की व्यवस्था बन सकती है।[२]

(३) काव्यानुगुणत्व की दृष्टि से—काव्य में विशेष शब्द के प्रयोग से विशेष चमत्कार की सृष्टि प्रायः देखी जाती है। इस तथ्य की व्याख्या व्यंग्य-व्यंजक भाव स्वीकार किये बिना नहीं हो सकती। वाच्यार्थ की दृष्टि से तो सभी पर्यायवाची समान है तब विशेष शब्द के प्रयोग से विशेष चमत्कार नहीं होना चाहिये। परन्तु, चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः वाच्य-वाचक भाव से व्यतिरिक्त व्यंग्य-यंञ्जक भाव संबंध मानना होगा। एक उदाहरण की परीक्षा करें—

१. वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यंग्य व्यञ्जकताश्रयणे तु व्यंग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था……
का. प्र. पं. ब. पृ. २४१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. का. प्र. प्रा. वि. पृ. २४०

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयताम् समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

'कपाली (महादेवजी) से समागम की इच्छा के कारण अब दोनों (चन्द्रकला और पार्वती) शोचनीय हो गईं' ।

यहाँ 'कपालिनः' इस प्रयोग के कारण भगवान शिव की दरिद्रता और बीभत्सता की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिये चन्द्रकला और पार्वती शोचनीय हैं कि ऐसे बीभत्स और दरिद्र से समागम की कामना करती हैं। यदि 'कपाली' के स्थान पर 'पिनाकी' का प्रयोग होता तो अर्थ की संगति ही नहीं होती। क्योंकि 'पिनाकी' से समागम की इच्छा में पार्वती और चन्द्रकला का सौभाग्य ही था, वे शोचनीय क्यों होतीं ? अर्थ-संगति और चमत्कार 'कपाली' के प्रयोग से संभव हुआ है। वाच्यार्थ की दृष्टि से 'पिनाकी' और 'कपाली' समानार्थी हैं। तब एक के प्रयोग से चमत्कार सृष्टि और द्वितीय के प्रयोग से चमत्कार का अभाव, व्यंग्यार्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करता है। यहाँ 'कपाली' में पिनाकी की अपेक्षा अधिक काव्यानुगुणत्व है। 'कपाली' में दरिद्रता आदि गुण व्यंजित होते हैं, 'पिनाकी' में नहीं, पर वाच्यार्थ दोनों का एक ही है। इसलिये व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ से भिन्न ही है, अतः व्यंग्य-व्यंजक भाव मानना ही होगा।

वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की पृथक्ता के कतिपय अन्य प्रमाण—

(क) वाच्यार्थ सभी श्रोताओं (प्रतिपत्तॄन्) के लिये एक रूप होता है। अतः वह नियत होता है। उदाहरण के लिये 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्य अस्त हो गया) वाक्य लें, इसका वाच्यार्थ नियत है। परन्तु इसका व्यंग्यार्थ, प्रकरण, वक्ता, श्रोता की भिन्नता के कारण अनेक रूप हो जाता है।[१] 'गतोऽस्तमर्कः' से (१) शत्रु पर आक्रमण का समय आ गया।[२] (२) अभिसरण का उपक्रम करो।[३] (३) तुम्हारे प्रिय आने वाले हैं।[४] (४) कार्य से निवृत्त होवे।[५] (५) सांध्यविधि में प्रवृत्त हो।[६] (६) दूर मत जा। (७) गायों को घर में ले जाओ।[८] (८) अब गर्मी

१. प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। का. प्र. पं. ३, पृ० २४२।
२. सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति।
३. अभिसरणमुपक्रम्यतामिति।
४. प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति।
५. कर्मकरणान्निवर्तामहे इति।
६. सांध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति।
७. दूरं मा गा इति।
८. सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नहीं है।[1] (९) विक्रेय वस्तुओं को समेटो।[2] (१०) प्रिय अभी भी न आये।[3] आदि अनेक प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति होती है। यह भिन्नता वक्ता, श्रोता, प्रकरणादि की भिन्नता के कारण है। परन्तु वाच्यार्थ सर्वत्र एक ही है। यह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की भिन्नता का प्रमाण है।

(ख) **स्वरूपगत भेद**—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूपगत भेद भी हैं। कहीं वाच्यार्थ निषेध परक होता है, परन्तु व्यंग्यार्थ विधिपरक। इससे विपरीत स्थिति भी होती है। निम्नलिखित श्लोक---

निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

में वाच्यार्थ निषेधपरक है। नायिका, दूती से कहती है---'तुम उस अधम के पास नहीं गई। हमारी पीड़ा न समझने वाली तुम! वापीस्नान को गई थीं परन्तु इसका व्यंग्यार्थ है कि दूती, नायक के पास गई भी और रमण भी किया। अतः वाच्यार्थ के निषेधपरक और व्यंग्यार्थ के विधिपरक होने से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप भेद हुआ। द्वितीय उदाहरण में---

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

वाच्यार्थ संशय रूप है। (आर्य विचारपूर्वक कहें. कामभावाक्रांत सुन्दरियों के नितम्ब सेवनीय हैं या पर्वतगह्वर) किन्तु व्यंग्यार्थ शांत और शृंगार में से एक के निश्चय रूप। यह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप भेद का प्रमाण है।

(ग) **कालगत भेद**---वाच्यार्थ की प्रतीति में कालगत भेद भी है, वाच्यार्थ की प्रतीति पहले होती है, व्यंग्यार्थ की उसके पश्चात् (पूर्वपश्चात् प्रतीतेः कालस्य)

(घ) **आश्रयभेद**---वाच्यार्थ केवल शब्दाश्रित है, किन्तु व्यंग्यार्थ-शब्द, उसके अंश, अर्थ, वर्णसंघटना आदि पर भी आश्रित रहता है।

(ङ) **निमित्तभेद**---वाच्यार्थज्ञान का निमित्त केवल शब्दानुशासन ज्ञान है, परन्तु व्यंग्यार्थ ज्ञान में प्रकरण आदि की सहायता, प्रतिभा का नैर्मल्य (सहृदयत्व) आदि अनेक निमित्त हैं।

---

१. संतापोऽधुना न भवतीति।
२. विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति।
३. नागतोऽद्यापि प्रेयानिति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(च) वाच्यार्थ का ज्ञाता मात्र बोद्धा कहलाता है, व्यंग्यार्थ का ज्ञाता विदग्ध संज्ञा से जाना जाता है। (बोद्धृमात्र-विदग्धव्यपदेशयोः)

(छ) **कार्यभेद**---वाच्यार्थ केवल प्रतीति कराता है, व्यंग्यार्थ 'चमत्कृति' का जनक है (प्रतीतिमात्र-चमत्कृत्योश्च)

(ज) संख्याभेद--वाच्यार्थ एक पर, व्यंग्यार्थ अनेकरूप होता है।

(झ) विषयभेद--कथन के वाच्यार्थ का विषय कोई और तथा व्यंग्यार्थ का विषय कोई और होता है। जैसे इस श्लोक में--

> कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
> सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

यह सखी का कथन है--'किसे अपनी प्रिया के सव्रण अधर देखकर रोष न होगा। मना करने पर भी भ्रमरसहित कमल सूंघने वाली! अब सहो।' वस्तुतः दुष्टा स्त्री के अधर पर परपुरुषोपभोग जनित व्रण है। इसे देखकर दुष्टा का पति रुष्ट होगा। अतः पति के रोष से बचाने के लिए ही सखी यह कह रही है, जिससे पास में ही कहीं पर स्थित पति यह जान ले कि यह भ्रमर जन्य व्रण है, परपुरुष जन्य नहीं। सखी ऐसा ढोंग कर रही है जैसे उसे दुष्टा के पति को उपस्थिति का ज्ञान न हो। यहाँ वाच्यार्थ का विषय दुष्टा स्त्री है और व्यंग्यार्थ का विषय दुष्टा का पति। अतः व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ में विषयगत भेद भी है।

व्यंग्यार्थ और तात्पर्यार्थ में भी भेद है। गुणीभूत व्यंग्य के असुन्दर भेद के उदाहरण इस श्लोक में---

> वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकुलकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
> गृहकर्मव्यापृताया बध्वाः सीदन्त्यङ्गानि॥

'दत्तसंकेत' कोई पुरुष कुञ्ज में प्रविष्ट हो गया यह इस श्लोक का व्यंग्यार्थ है और वानीर कुंज में से उड़ने वाले पक्षियों के कोलाहल से गृहकर्म में व्यापृत वधू के अंग कंपित हो गये। यह तात्पर्यार्थ है। क्योंकि द्वितीय कक्षा में इसी तात्पर्य की प्रतीति हो रही है। यहां वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराकर भी वाच्य अपने ही स्वरूप में स्थित है। व्यंग्यार्थ यहाँ अतात्पर्यविषयीभूत अर्थ है, वह शब्द अभिहित न होकर भी प्रतीयमान है। तब इस प्रतीति में व्यंजना व्यतिरिक्त अन्य क्या व्यापार होगा, अतः व्यंजना माननी ही होगी।

इसके अतिरिक्त वाचक शब्दों की अर्थ की अपेक्षा होती है,[1] पर व्यंजकशब्द तो उन अर्थों का भी बोध कराते हैं, जिनमें उनका संकेतग्रह नहीं है।

---

१. वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति.... ध्व. प्र. पं. उ. पृ. २४५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता और अभिधा व्यापार से भिन्न व्यंजना व्यापार की स्थापना की।

व्यञ्जना की लक्षणा से भिन्नता–प्रकरण

व्यंग्यार्थ को अभिधार्थ से भिन्न सिद्ध करने की युक्तिप्रक्रिया में एक युक्ति यह भी थी कि व्यंग्यार्थ अनेक रूप होता है, अभिधार्थ नियतरूप। लक्षणा में व्यञ्जना का पर्यवसान करने वालों की युक्ति है, कि व्यंग्यार्थ ही अनेक रूप नहीं होता, लक्ष्यार्थ भी अनेक रूप होता है अतः लक्ष्यार्थ में ही व्यंग्यार्थ की गतार्थता है। व्यंग्यार्थ कोई नूतन वस्तु नहीं है। लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ से भिन्न भी है और अनेक रूप भी, इस बात को सिद्ध करने के लिये व्यञ्जना विरोधी तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम उदाहरण 'उत्तररामचरितम्' से उद्धृत है।[1] इसमें 'राम' का वाच्यार्थ दशरथ-पुत्र राम ही है, परन्तु लक्ष्यार्थ 'अतीव दुःख-सहिष्णु राम' है। यह अर्थान्तर संक्रमित लक्षणा है। यहाँ लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ से भिन्न है ही।

द्वितीय उद्धरण कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' से है।[2] इस श्लोक के अन्तिम चरण में प्रयुक्त 'राम' का लक्ष्यार्थ है 'निष्करुणराम।' तृतीय उदाहरण[3] में राम का अर्थ है 'खर-दूषण का वध करने वाले राम।'

इन सभी उदाहरणों में वाच्यार्थ एक ही है, पर लक्ष्यार्थ अनेक रूप, अतः लक्ष्यार्थ में भी व्यंग्यार्थ के समान सभी विशेषताएँ हैं, जैसे--

१. लक्षणीय अर्थ भी नानात्व को धारण करता है (लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते।)

२. लक्षणीय अर्थ भी विशेषव्यपदेश का हेतु है (विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति।)

३. लक्षणीय अर्थ का अवगम भी शब्द और अर्थ दोनों से होता है (तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः)

---

१. स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः,
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो **रामोऽस्मि सर्वं सहे**,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

२. प्रत्याख्यानपरुषा कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा,
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदां साक्षिणा,
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

३. '**रामोऽसौ** भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्

४. लक्षणीय अर्थ में भी प्रकरणादि विमर्श अपेक्षित है (प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति) तब यह नवीन प्रतीयमान अर्थ कहा जाने वाला क्या है ? (कोयं· नूतन: प्रतीयमानो नाम ?)

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त तर्कों का सफलतापूर्वक खंडन किया है। यद्यपि लक्षणीय अर्थ भी नानात्व धारण करता है, तब भी वे अनेकार्थ, शब्द के अभिधार्थ के समान नियतरूप ही हैं (अभिधेयवन्नियतत्वमेव), मुख्यार्थ से असम्बन्धित अर्थ लक्षणा द्वारा नहीं बतलाया जा सकता (न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते।) अतः लक्ष्यार्थ यद्यपि अनेक रूप हो सकता है, तथापि वे सभी अर्थ निश्चितरूपेण मुख्यार्थ से सम्बन्धित ही होंगे।

परन्तु, प्रतीयमान अर्थ प्रकरण कारण कहीं—मुख्यार्थ से
(१) नियत सम्बन्ध वाला।
(२) अनियत सम्बन्ध वाला और कहीं
(३) परम्परित सम्बन्ध वाला प्रतीत होता है।

इनमें 'श्वश्रूरत्र निमज्जति[1]...' आदि श्लोक में मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ का नियत सम्बन्ध है, क्योंकि मुख्यार्थ में खाट पर गिरने का निषेध है, व्यंग्यार्थ में निमन्त्रण है। अतः मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विरोध सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध प्रसिद्ध है। अतः इसे नियत सम्बन्ध वाला व्यंग्यार्थ कहा जायगा। कुछ लोगों के अनुसार, मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विषय एक होने पर उसे नियत सम्बन्ध वाला कहा जायगा। इस दृष्टि से भी यह नियत सम्बन्ध का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का विषय पथिक ही है।

(२) अनियत सम्बन्ध—'कस्य वा न भवति[2]...' आदि श्लोक अनियत सम्बन्ध वाले व्यंग्यार्थ का उदाहरण है। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है, और इसमें वाच्यार्थ का विषय सखी तथा व्यंग्यार्थ का विषय पति है, अतः यह अनियत सम्बन्ध व्यंग्यार्थ का प्रमाण है।

(३) परम्परित सम्बन्ध—'विपरीतरते[3]...' आदि श्लोक में मुख्यार्थ और

---

१. श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि ॥
२. कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥
३. विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्यंग्यार्थ में परम्परित सम्बन्ध है। इस श्लोक का अर्थ है, 'विपरीत रति के समय, नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा को देखकर रसाकुला लक्ष्मी, हरि के दक्षिण नेत्र को झट से ढँक देती है।' परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि भगवान विष्णु का दक्षिण नेत्र सूर्य है, अतः लक्ष्मी उसे ढँकती है, जिससे सूर्य के ढँकने से नाभिकमल भी संकुचित हो जायगा। और ब्रह्मा के उसमें बंद हो जाने से लक्ष्मी की रतिक्रीडा निर्विघ्न होगी। मुख्यार्थ के साथ यह व्यंग्यार्थ परम्परा के कारण सम्बद्ध है। आचार्य मम्मट के शब्दों में—

'इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः। अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते, तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य संकोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनं, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति।'[1]

इस प्रकार व्यंग्यार्थ की अनेकरूपता मुख्यार्थ के साथ अनेक सम्बन्ध वाली, अथवा मुख्यार्थ से बिना सम्बन्ध वाली हो सकती है, पर लक्ष्यार्थ की अनेकरूपता मुख्यार्थ के साथ नियत सम्बन्ध वाली ही हो सकती है। अतः अनेकरूपता के आधार पर व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ में अन्तर्भावित नहीं किया जा सकता।

पुनः लक्षणा में मुख्यार्थबाधादि अनिवार्य हैं, परन्तु 'श्वश्रूरत्र निमज्जति[2]……' आदि उदाहरण में, मुख्यार्थ बाध बिना ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है, यहाँ लक्षणा कैसे होगी? इस श्लोक का अर्थ है—'हे रतौंधी वाले पथिक दिन में ही देख लो, मेरी सास यहाँ सोती है और मैं यहाँ। रात में मेरी शैय्या पर मत गिर जाना।' इसमें वाच्यार्थ भी ठीक है और उसका बाध हुए बिना ही रात्र्यामंत्रण रूप व्यंग्य भी प्रतीत होता है। लक्षणामूला ध्वनि में तो प्रयोजन रूप व्यंग्य के कारण ही लक्षणा प्रवृत्त होती है। तथा जैसे अभिधा संकेतग्रह की अपेक्षा करती है, (समयव्यपेक्षा), वैसे ही लक्षणा को भी मुख्यार्थ बाधादि तीन शर्तों की अपेक्षा होती है (तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषव्यपेक्षा लक्षणा।) इसलिये लक्षणा को अभिधा की पुच्छभूता कहते हैं (अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः)। इसके अतिरिक्त लक्षणा और व्यञ्जना के भेदक निम्नलिखित आधार और भी हैं—

(१) लक्षणा के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति देखी जाती है। (तदनुगमनेन तस्य दर्शनात्).

(२) लक्षणा के बिना भी व्यञ्जना होती है, अभिधामूला व्यंजना है ही (न च तदनुगतमेव अभिधालंबनेनापि तस्य भावात्)

---

१. का. प्र. पं. उ. पृ. २५३

२. श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(३) व्यंजना अवाचक वर्णों के द्वारा भी देखी जाती है, अभिधा और लक्षणा के लिये वाचक पद अनिवार्य है। (अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः)

(४) व्यंजना, शब्द पर निर्भर नहीं है, अशब्दात्मक कटाक्षादि में भी वह प्रसिद्ध है, लेकिन अभिधा और लक्षणा तो शब्दानुसारिणी हैं। शब्द बिना उनकी गति ही नहीं है।

इस प्रकार अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक व्यापारों के पश्चात् होने वाले ध्वनन आदि पर्यायों से प्रसिद्ध व्यंजनाव्यापार अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

अखंडतावाद में व्यंजना—अखंडतावाद के समर्थक वेदान्ती और अखंडार्थतावाद के स्थापक वैयाकरण भी व्यंजना नहीं मानते। आचार्य मम्मट इन दोनों मतों में भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हेतु व्यञ्जना का अवसर प्रतिपादित करते हैं। मम्मटाचार्य की एतद्विषयक पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं----

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादी विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव।'[2]

'सारबोधिनी' और 'बालबोधिनी' टीकाओं के रचयिता उपर्युक्त पंक्तियों में केवल वेदान्तियों के अखंडतावाद का उल्लेख मानते है, तथा प्रभाकर जैसे अन्य विद्वान् इसमें वैयाकरणों के अखंडार्थतावाद का संकेत मानते हैं। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार मम्मटाचार्य ने इन पंक्तियों में, वेदांती और वैयाकरण, दोनों के अखंडार्थतावाद में व्यञ्जना प्रतिपादित की है। 'काव्यप्रकाश' की उपर्युक्त पंक्तियों को ध्यानपूर्वक देखने पर आचार्य विश्वेश्वर का मत ही समीचीन ज्ञात होता है। क्योंकि 'अविद्यापदपतितैः' आदि शब्द निश्चित रूप से वेदान्तियों की ओर संकेत करते हैं। तथा 'अखंडबुद्धिनिर्ग्राह्यः वाक्यार्थ एव वाच्यः', यह मत वैयाकरणों का भी है। इसलिए यही मानना समुचित है कि आचार्य मम्मट ने अपनी विशिष्ट शैली में वेदान्ती और वैयाकरण दोनों मतों को एक साथ ही विवेचन का विषय बनाया है।

वेदान्तियों का अखंडतावाद—साधारणतः पदार्थसंसर्ग बोध को वाक्यार्थ कहा जाता है। परन्तु, वेदान्ती ऐसे वाक्य भी मानते हैं जो पदार्थसंसर्ग बोध नहीं कराते। इस प्रकार के वाक्यों को वे अखंडवाक्य कहते हैं। इस कोटि में मुख्यतः लक्षण वाक्य आते हैं, जो स्वरूप बोध ही कराते हैं। इस प्रसंग में आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या द्रष्टव्य है।

---

१. अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव। पृ० २५२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. का. प्र. पं. उ. पृ० २५७

'जिस विषय में प्रश्न किया जाय, उसी विषय में उत्तर दिया जाय यह एक सामान्य सिद्धान्त है। प्रश्न कुछ किया जाय, उत्तर कुछ और ही तो यह उचित नहीं है। किसी पदार्थ के स्वरूप की जिज्ञासा होने पर लक्षण वाक्य द्वारा उसका उत्तर दिया जाता है। जैसे कोई पूछे कि आकाश में 'कतमश्चन्द्र:', 'चंद्रमा कौन सा है ? तो उत्तर देने वाला कहता है। 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र:' 'जो सबसे अधिक प्रकाशमान है, वह चन्द्रमा है'। यहाँ चन्द्रमा के स्वरूप के संबन्ध में प्रश्न है तो उत्तर भी स्वरूप मात्र विषयक ही होना चाहिए। इसलिए 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र:' इस वाक्य को केवल स्वरूपपरक मानना चाहिये, संसर्गपरक नहीं। अर्थात् इससे पदार्थ संसर्ग बोध नहीं होता है। अतः यह वाक्य संसर्ग का नहीं, स्वरूपमात्र का बोधक होने से अखंडार्थ वाक्य कहलाता है।'[1] 'सोऽयं देवदत्त:' 'तत्त्वमसि' आदि भी इसी प्रकार स्वरूप कथन करने वाले अखंडार्थ वाक्य हैं।

अखंडार्थवाक्य विषयक एक अन्यधारणा भी है। क्रिया कारक ज्ञान से उत्पन्न होने वाले शब्दबोध को सखण्ड बोध कहा जाता है, क्योंकि वाक्य को क्रिया-कारकादि में खंड-खंड किया गया है। ऐसे वाक्य, जिनमें इस प्रकार क्रिया कारकादि का विभाजन न हो सके अखंड वाक्य कहलाते हैं।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्मातिरिक्त सब मिथ्या है, अतः धर्म-धर्मिभाव, क्रियाकारकादि सब भी मिथ्या हैं। यह परमार्थिक दृष्टि से है। पारमार्थिक दृष्टि से वेदान्ती अभिधा, लक्षणादि कुछ नहीं मानते। परन्तु, व्यावहारिक रूप में अभिधा और लक्षणा की सत्ता वेदान्ती भी स्वीकारते हैं। 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ के लिये वेदान्ती लक्षणा के जहत् और अजहत् भेद ही नहीं 'जहदजहल्लक्षणा' यह तृतीय भेद भी मानते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी नहीं, पर व्यावहारिक दृष्टि से अखंड-वाक्यादि भेद हैं।

उपरिकथित अखंडवाच्यों से अखंड बुद्धि उत्पन्न होती है, इस अखंड बुद्धि से निर्ग्राह्य पर ब्रह्म ही उन अखन्ड वाक्यों का अर्थ होता है। वे वाक्य अखंड ब्रह्म के वाचक होते हैं और अखंड ब्रह्म उन वाक्यों का वाच्य। यह वेदान्तियों का मत है।

आचार्य मम्मट का कथन है कि, वेदान्तियों की पारमार्थिक दृष्टि से भले ही ब्रह्म सत्य हो, पर वेदान्तियों के ही अनुसार, व्यावहारिक दृष्टि में तो दृश्यमान जगत् की भी स्थिति है ही, अतः व्यावहारिक दृष्टि से वाक्य में भी पदपदार्थ भी मानने ही होंगे। जब पद-पदार्थ की स्थिति है तो "निःशेषच्युत......"आदि श्लोकों में जो निषेध

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. का प्र० पं० उ० पृ० २५८.

से विधिपरक अर्थ प्रतीति होता है, वह भी स्वीकार करना होगा, और वह अर्थ तो व्यञ्जना का ही विषय है। क्योंकि अन्य किसी प्रकार से इस अर्थ की प्रतीति हो नहीं सकती।

वास्तव में, वेदान्ती कुछ भी (ब्रह्मातिरिक्त) सत्य नहीं मानते, इसलिये 'विध्यादि अर्थ' भी असत्य हैं। पर व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की दृश्यमान स्थिति मान लेने पर इन अर्थों की भी सत्ता माननी होगी। जब सत्ता मान ली तो प्रतीति कराने वाला व्यापार तो व्यंजना ही है। मम्मटाचार्य के शब्दों में----

'अखंडबुद्धि से ग्रहीत (अखंडबुद्धिनिर्ग्राह्यः) वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ है (वाक्यार्थ एव वाच्यः)। अखण्ड वाक्य (वाक्यम्) ही उसका वाचक (वाचकम्) है। जो ऐसा कहते है (येऽप्याहुः) वे भी अविद्या की स्थिति में (तैरप्यविद्यापदपतितैः) पद पदार्थ कल्पना करना चाहते हैं। अतः उनके पक्ष में भी (तत्पक्षेऽपि) उक्त उदाहरणादि में (उक्तोदाहरणादौ) विधिपरक अर्थ (विध्यादिः) अवश्य ही व्यंग्य है।'

वैयाकरणों का अखंडार्थतावाद----वाक्य में उसके पृथक-पृथक पदों का कोई अर्थ-नहीं होता। पदार्थों का समष्टि रूप ही वाक्यार्थ होता है। यही वैयाकरणों के अखंडार्थतावाद का सरलतम रूप है। पद-प्रकृति का भेद जो व्याकरण में है, वह केवल समझने के लिए है, बालबुद्धि वालों के लिये है। यद्यपि वह मार्ग—पद प्रकृति भेद मार्ग-असत्य हैं, तथापि सत्य तक पहुँचने का मार्ग है। जैसे वेदान्ती व्यावहारिक रूप में संसार सत्य मानते हैं, वेसे ही मार्ग रूप में वैयाकरण, पद, प्रकृति गत भेद स्वीकार करते हैं। वस्तुतः दोनों ही अखंडार्थतावादी हैं।

इसीलिए आचार्य मम्मट ने व्यावहारिक दृष्टि से वेदान्ती और वैयाकरणों के मत में व्यंजना का अवसर सिद्ध किया है।

अनुमान प्रक्रिया में व्यञ्जनाऽन्तर्भाव का निषेध

जैसा कि पूर्व प्रकरण में कहा गया है, राजानक महिमभट्ट ने व्यञ्जना को अनुमान प्रक्रिया के अन्तर्गत सिद्ध किया और व्यंग्यार्थ को अनुमेयार्थ कहा। जिन उदाहरणों को लेकर व्यञ्जनावादियों ने ध्वनि के भेदों का प्रदर्शन किया, उन्हीं उदाहरणों को लेकर महिमभट्ट ने अनुमान प्रक्रिया घटित की है तथा इस प्रकार प्रतीत अर्थ को अनुमेयार्थ कहा है। महिमभट्ट के मत पहले प्रस्तुत कर आचार्य मम्मट ने उसका खंडन किया है। महिम के अनुसार

वाच्य से असंबद्ध (वाच्यादसंबद्धं) अर्थ तो प्रतीत हो नहीं सकता (तावन्न प्रतीयते) क्योंकि ऐसा होने पर, जिस किसी भी शब्द से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी (यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः) अतः शब्द और अर्थ में व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध व्याप्ति के बिना (अप्रतिबन्धः) निश्चित नहीं हो सकता

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(अवश्यं न भवति ।) इसलिये व्याप्तियुक्त (व्याप्तत्वेन) और नियतधर्मी अर्थात् पक्ष में रहने के कारण (नियतधर्मिनिष्ठत्वेन) तीन रूप वाले लिङ्ग से लिङ्गी का जो अनुमान है, उसी में व्यंजना का भी पर्यवसान हो जाता है ।"

इस कथन में अनुमान प्रक्रिया के तीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। उनका संक्षिप्त विवेचन प्रसंगप्राप्त है।

अनुमान के दो अंग है[1], व्याप्ति और पक्षधर्मता। 'व्याप्ति' दो वस्तुओं के स्वाभाविक सम्बन्ध को कहते हैं 'स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः'[2]

इस पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार की उपाधि नहीं होनी चाहिये। पक्ष-धर्मता का तात्पर्य है, हेतु का पक्ष में रहना। हेतु अनुमान प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग है इस हेतु की तीन विशेषताएँ कही गईं हैं।

(क) पक्षसत्त्वं-अर्थात् हेतु, पक्ष में रहे। पक्ष, वह है जिसमें साध्य संदिग्ध हो। 'पर्वतो वह्निमान्' उदाहरण में पर्वत पक्ष है, क्योंकि उसी में अग्नि (साध्य) की स्थिति संदिग्ध है। इस पर्वत में हेतु-धूम रहना ही चाहिए। तभी हेतु धूम को 'पक्षसत्त्व' कहा जायगा।

(ख) सपक्षसत्त्वं-सपक्ष में भी हेतु की स्थिति अनिवार्य है। जिसमें साध्य की स्थिति निश्चित हो, उसे सपक्ष कहते हैं।[4] 'पर्वतो वह्निमान्' उदाहरण में महानस (रसोईघर) सपक्ष है, वहाँ अग्नि (साध्य) की स्थिति निश्चित है। सपक्ष को व्याप्ति के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

(ग) विपक्षव्यावृत्ति-विपक्ष वह है, जहाँ साध्य का अभाव निश्चित हो[5]। 'पर्वतो वह्निमान्' उदाहरण में सरोवर विपक्ष है, विपक्ष में साध्य ('अग्नि') का निश्चित अभाव है।

उपर्युक्त तीन विशेषताओं से युक्त, हेतु द्वारा, व्याप्ति और पक्षधर्मता के बल से जो अनुमान प्रक्रिया है, उसमें व्यंजना का पर्यवसान है। क्योंकि (१) व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्याप्ति बिना नहीं हो सकती, शब्द और अर्थ में निश्चित सम्बन्ध है, यदि यह सम्बन्ध नहीं माना जायगा तो

---

१. तर्कभाषा पृ ८८
२. " " ७६
३. संदिग्धसाध्यवान् पक्षः। तर्कभाषा पृ ८६
४. निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। " "
५. निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। " "

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जिस किसी भी शब्द से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी और (१) उसमें पक्षधर्मता भी है, अतः व्यंजना, अनुमान में ही पर्यवसित है, यह महिमभट्ट का मत है। 'भ्रम धार्मिकादि……' श्लोक में अनुमान प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

'घर में श्वान के न रहने से विहित भ्रमण, गोदावरी तीर पर उपलब्ध सिंह के कारण अभ्रमण का अनुमान कराता है। क्योंकि जो-जो स्थान भीरुभ्रमण के योग्य हैं वे भय के कारण की निवृत्ति की उपलब्धिपूर्वक हैं (यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भय-कारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्) गोदावरी तीर पर सिंह की उपलब्धि है, अतः वह भीरु भ्रमण के योग्य नहीं है।'

पंचावयव अनुमान प्रक्रिया निम्नलिखित है—

(१) प्रतिज्ञा गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यम् (गोदावरी तट भीरुभ्रमण के अयोग्य है)।

(२) हेतुः भयकारणसिंहोपलब्धेः (भय के हेतु सिंह की उपलब्धि के कारण)

(३) व्यतिरेक व्याप्ति सहित उदारहरण--यद्यत् भीरुभ्रमणायोग्यं तत्तद्भय-कारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम् यथा गृहम्। (जो-जो भीरुभ्रमण के अयोग्य है वह भयकारण की निवृत्ति की उपलब्धिपूर्वक है, जैसे घर)।

(४) उपनय—न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धेः (यह तीर वैसा नहीं है, भयकारण सिंह की उपलब्धि के कारण।)

(५) निगमन—तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यम् (इसलिये भीरुभ्रमण के योग्य नहीं है)

आचार्य मम्मट द्वारा उपर्युक्त मत का खंडन---

मम्मटाचार्य के अनुसार महिम भट्ट ने जिस 'सिंहोपलब्धि' को हेतु कहा है, वह हेतु नहीं वरन् हेत्वाभास है। हेतु की तीन विशेषताएं पहले कही जा चुकी हैं। इनमें से एक भी न होने पर हेतु, हेत्वाभाव कहलाता है। जो हेतु पक्ष में ही न हो, उसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जिस हेतु में विपक्षव्यावृत्ति न हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। आचार्य मम्मट ने सिंहोपलब्धि रूप हेतु को स्वरूपासिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक कहा है।

(१) स्वरूपासिद्ध---जो हेतु अपने आश्रय में ही न पाया जाय वह स्वरूपासिद्ध है।[1] सिंहोपलब्धि रूप हेतु में, सिंह को किसने देखा, स्वयं पंडित ने तो प्रत्यक्ष देखा नहीं। उस नायिका के कथन से सिंह का सद्भाव ज्ञात होता है। पर जो भी वचन कहे जाएं वे सत्य भी होंगे, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं हैं। अर्थ के साथ वचनों का

१. यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः……तर्कभाषा पृ. ११

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतिबन्ध अवश्य ही हो, ऐसा नहीं है, अतः वचन का प्रामाण्य नहीं है।[1] इसलिये गोदावरी तीर (पक्ष) में सिंहोपलब्धिरूप हेतु के निश्चित न होने से यह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हुआ।

(२) अनैकान्तिक--गुरु की आज्ञा से, प्रभु के आदेश से अथवा प्रिया के अनुराग से, भीरु भी ऐसे स्थान पर जाते हुए देखे जाते हैं, जहाँ भय का कारण उपलब्ध हो, अतः जहाँ भीरुभ्रमण हो, वहाँ भय कारण की अनुपलब्धि हो, ऐसी व्याप्ति नहीं बनती अतः सिंहोपलब्धि अनैकान्तिक हेत्वाभास भी है।

(३) विरुद्ध—यह आवश्यक नहीं है कि जो कुत्ते से डरे वह सिंह से भी डरे,[2] अतः यह हेतु विरुद्ध भी है।

इस प्रकार यह हेतु साध्य की सिद्धि कैसे करेगा[3] ?

इसी प्रकार 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं……' आदि में 'चन्दन के छूटने' को अनुमापक कहा है, वह 'चन्दन का छूटना' अन्य कारण से भी हो सकता है। श्लोक में 'चन्दन छूटने' आदि को स्नान का कार्य कहा ही गया है। अतः उपभोग के साथ 'चन्दन छूटने' की व्याप्ति नहीं बनती। इसलिये यह हेतु भी अनैकान्तिक है।

व्यञ्जनावादी तो श्लोक में प्रयुक्त 'अधम' पद के सहयोग से व्यञ्जकत्व सिद्ध करता है। यहाँ 'अधमत्व' के प्रमाणसिद्ध न होने से अनुमान नहीं हो सकता, पर व्यञ्जना हो सकती है, क्योंकि व्यञ्जनावादी तो व्याप्ति की अपेक्षा ही नहीं करते। व्यञ्जनावादियों के अनुसार तो इस प्रकार के अर्थ से व्यंग्यार्थ रूप वैसे अर्थ की प्रतीति होती ही है। और व्यंजनावादी इसे दोष भी नहीं समझते।

अतः प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तो व्यंजना से ही होती है—उसे अनुमानजन्य अनुमेयार्थ नहीं कहा जा सकता।

२. कविराज विश्वनाथ

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति कविराज विश्वनाथ भी 'रस' को व्यंग्य मानते हैं। तथा इस हेतु अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यादि के अतिरिक्त चतुर्थ वृत्ति की आवश्यकता बतलाते हैं—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्॥[4]

---

१. अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति। का. प्र. आ. वि. पृ. २६१

२. शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि……पृ. २६१

३. तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः……

४. साहित्यदर्पण सं. डॉ० सत्यव्रत सिंह पं. परिच्छेद, पृ. २२८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रस भावादि की प्रतीति में, अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक वृत्तियां विश्रान्त रहती हैं अर्थात् इन वृत्तियों का व्यापार विरत होता है अतः रसादि के प्रतीत्यर्थ चतुर्थ वृत्ति व्यञ्जना स्वीकारनी होगी। अभिधा संकेतित अर्थ के बोधन मात्र में विरत हो जाती है, वह, वस्तु, अलंकार रसादि व्यंग्य के बोधन में क्षम नहीं है। क्योंकि रसादि शब्दों के संकेतित अर्थ नहीं होते, इसीलिये वे अभिधाबोध्य नहीं हैं। विभावादि के अभिधान से रस-भावादि का अभिधान नहीं हो जाता। और स्व-शब्द से रसादि का निर्देश तो दोष ही है। यदि श्रृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग करें भी जैसे 'श्रृङ्गाररसोऽयम्' उक्ति में तो यहाँ रस की प्रतीति नहीं होती। रस तो स्वप्रकाशानन्दस्वरूप है।[1]

तात्पर्य वृत्ति इसलिये व्यंग्य रूप अर्थ के प्रकाशन में असमर्थ है कि अभिहितान्वय-वादियों के ही अनुसार तात्पर्य वृत्ति का व्यापार वाक्य स्थित पदों के परस्पर अन्वय करने में ही परिक्षीण हो जाता है। एक व्यापार एक ही कार्य में सक्षम होता है, अन्य में नहीं। इसी प्रसंग को आचार्य मम्मट पर्याप्त विस्तार से समझा चुके हैं। संभवतः साहित्यदर्पणकार ने अत्यन्त संक्षेप कथनों द्वारा व्यंजनाविरोधियों के तर्कों को निराधार सिद्ध किया है। इस संक्षिप्त शैली के कारण ही कविराज विश्वनाथ की तर्कनाओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

भट्ट लोल्लट ने अभिधा-व्यापार से ही समस्त अर्थों की प्रतीति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' प्रतिपादित कर व्यंजना को व्यर्थ कहा था। और धनंजय-धनिक ने 'दशरूपकम्' में तात्पर्य वृत्ति को 'यावत्कार्यप्रसारित्वात्' कहकर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्य से ही मानी है। भट्टलोल्लट मीमांसानुयायी हैं और धनंजय-धनिक की तात्पर्य वृत्ति भी मूलतः मीमांसकों का मत है। इसलिये अधिक विस्तार में न जाकर मीमांसकों की ही शब्द, बुद्धि और कर्म के एक व्यापार में प्रवृत्त होने के उपरान्त अन्य व्यापारों में प्रवृत्त न हो सकने विषयक मान्यता के आधार पर उपर्युक्त दोनों धारणाओं (भट्ट लोल्लट और धनंजय-धनिक की धारणाओं) को निरस्त किया गया है। मीमांसकों की मान्यता है—

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः'

अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म तीनों ही जब एक बार प्रवृत्त होकर विरत हो जाते हैं तो फिर इनके व्यापार का अभाव ही होता है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका आशय यह हुआ कि अभिधा, संकेतित अर्थ बोधन में और तात्पर्यवृत्ति वाक्य स्थित पदों का परस्पर अन्वय करने में प्रवृत्त होने के पश्चात् अन्य व्यापार में प्रवृत्त नहीं हो

---

१. यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत दोष एवेति वक्ष्यामः। क्वचिच्च 'श्रृङ्गार-रसोऽयम्' इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः तस्य स्वप्रकाशानन्दरूपत्वात्।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सकती—यह मीमांसकों की मान्यतानुसार ही सिद्ध है, तब एक अभिधा से ही समस्त व्यापारों के मानने वाले भट्ट लोल्लट का मत निराधार है। इसी प्रकार तात्पर्य वृत्ति भी पदों के परस्पर अन्वय रूप व्यापार में क्षीण हो जाने के कारण प्रतीयमानार्थ की प्रतीति में सक्षम नहीं हो सकती, अतः यह मान्यता भी असंगत है। इसलिये मीमांसक मतानुयायी होने पर भी, मीमांसकों की मान्यताओं के विरुद्ध कथन करने के कारण ये विद्वान मीमांसकों द्वारा ही दण्डनीय हो जाते हैं।[1] तथा अभिधा से सभी व्यापार मानने वाले ये मीमांसानुयायी लक्षणा को भी फिर क्यों मानते हैं—यह स्वयं ही अन्तर्विरोध है। मम्मटाचार्य द्वारा कथित तर्क को पुनः प्रस्तुत करते हुए कविराज कहते हैं कि—सभी व्यापार द्वारा माने जाएँ तो 'ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः' 'कन्या ते गर्भिणी' इत्यादि वाक्यों में व्यञ्जित हर्ष, शोकादि भी वाच्य ही होंगे, जो किसी के भी द्वारा मान्य नहीं है।

धनंजय—धनिक ने 'दशरूपकम्' में कहा है 'पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम्', अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत्, ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशय-सुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्त्यौपयिक, प्रयोजकानुपलब्धेर्निरतिशय-सुखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते।[2] 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थं इति न्यायात्' अर्थात् पौरुषेय और अपौरुषेय, सभी वाक्य कार्यनिष्ठ होते हैं, उनका एक उद्देश्य होता है। उद्देश्यविहीन वाक्य तो उन्मत्त व्यक्ति के प्रलापवत् ही होंगे। काव्य के शब्दों का कार्य (उद्देश्य) 'निरतिशयसुखास्वाद रूप, रस के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं,' अतः वही कार्यरूप में अवधारित किया जाता है, और जिस उद्देश्य हेतु वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वही उसका शब्दार्थ होता है. इस न्याय से 'निरतिशयसुखास्वाद रूप रस' काव्य रूपी वाक्य का वाक्यार्थ ही कहा जायगा। यह धनंजय-धनिक की मान्यताका पूर्व वाचन है।

धनंजय-धनिक ने वाक्य के 'तत्परत्व' को आधार बनाकर ही स्वमत का आख्यान किया है। इसलिये, कविराज विश्वनाथ ने 'तत्परत्व' पर ही प्रश्नचिह्न लगाया है ? कविराज पूछते हैं—यह तत्परत्व क्या है[3] ? 'तत्परत्व' के दो अभिप्राय हो सकते हैं-प्रथम यह कि धनंजय-धनिक का 'तत्परत्व' से तदर्थत्व, अर्थात् व्यंग्यार्थक, आशय हो—तब तो कोई विवाद नहीं, क्योंकि वाक्य, व्यंग्यार्थक हो ही सकता है। 'तत्परत्व'

---

१. तयोरुपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः'...सा० द० डॉ० सिंह, पृ० ३४०।

२. दशरूपकम् सं० डॉ० व्यास० चतुर्थ प्रकाश पृ० २४७-२४८ साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ द्वारा उद्धृत, पृ० ३४१-३४२ पर (डॉ० सिंह का संपादित संस्करण)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

३. किमिदं तत्परत्वं नाम ? पृ० ३४२

का द्वितीय अभिप्राय 'तद्बोधक' हो सकता है, तब इसका आशय होगा कि तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है। परन्तु, यहीं एक और शंका उत्पन्न होती है कि धनंजय, धनिक ने जिस 'तात्पर्यवृत्ति' से व्यंग्यार्थ का बोधकत्व माना है वह वृत्ति क्या मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति ही है[1] ? यदि यह अभिहितान्वयवाद में प्रसिद्ध तात्पर्यवृत्ति है तो इससे व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो वाक्य-स्थित पदों के परस्पर अन्वय में ही क्षीण हो जाती है। यदि धनंजय-धनिक की तात्पर्यवृत्ति अभिहितान्वय वाद सम्मत तात्पर्यवृत्ति से भिन्न है तो यह व्यंजनावृत्ति का ही नाम भेद से कथन है। यदि धनञ्जय-धनिक की तात्पर्यवृत्ति को व्यञ्जना से भिन्न तथा परंपरासम्मत वृत्ति ही माने तो पुनः एक शंका होती है कि क्या इस तात्पर्यवृत्ति से विभावादि संसर्गबोध और रसप्रतीति साथ साथ होगी ? इन दोनों की साथ साथ प्रतीति तो हो नहीं सकती, क्योंकि विभावादि संसर्ग बोध और रस-प्रतीति में कारण-कार्य भाव माना गया है। साथ-साथ होने में यह प्रसिद्ध कारणकार्य भाव संबंध ही न रहेगा[2] भरतमुनि के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' में भी विभावानुभाव से रस की निष्पत्ति कह कर, इनका कारण कार्य भाव प्रतिपादित किया है।

अतः 'तात्पर्यवृत्ति' (धनंजय-धनिक की) अभिहितान्वयवाद सम्मत नहीं है, तथा कोई, परंपरागत वृत्ति भी नहीं है, इसलिये यह व्यञ्जना का ही प्रकारांतर से कथन है। वस्तुतः धनंजय-धनिक ने तात्पर्य वृत्ति का अतिविस्तार कर दिया है और जिस रूप में इसे कहा गया है, वह व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न कुछ नहीं है। यह कविराज का मौलिक तर्क सर्वथा उपयुक्त है।

लक्षणा में व्यञ्जनान्तर्भाव का निषेध—आचार्य मम्मट इस प्रसंग में विस्तृत तर्कनाओं को प्रस्तुत कर चुके हैं—अतः कविराज ने संक्षेप में ही कह दिया है कि, लक्षणा तो 'गंगायां घोषः' में केवल तटरूप लक्ष्यार्थ का बोध कराकर विरत व्यापार हो जाती हैं। इस लक्ष्यार्थ से सर्वथा विलक्षण शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनों की प्रतीति लक्षणा से कैसे हो सकती है ? उसकी प्रतीति तो व्यञ्जना से ही माननी होगी।[3]

---

१. केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः, अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्, द्वितीये तु नाममात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः। सा. द. पृ. ३४२।

२. नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्त्या विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनम् इति चेत् ? न तयोर्हेतुफलभावाङ्गीकारात्··· ···सा० द० पं. प. पृ० ३४२।

३. 'गंगायां घोषः' इत्यादौ तटाद्यर्थमात्रबोधविरतायां लक्षणायाञ्च कुतः शीतत्व-पावनत्वादिव्यंग्यबोधकता। तेन तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति निर्विवादमेतत्। सा. द. पृ. ३४३।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पिष्टपेषण से बचने के लिये ही संभवतः कविराज ने यह संक्षिप्त कथन उचित समझा है।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भेद का आधार कविराज ने निम्नलिखित कारिका में प्रस्तुत किया है–

> बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
> आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः॥ ९॥[1]

अभिधेय से व्यंग्य इन—(१) बोद्धृ, (२) स्वरूप, (३) संख्या (४) निमित्त (५) कार्य, (६) प्रतीति (७) काल, (८) आश्रय, (९) विषय, (१०) अन्यान्यनिमित्तक (भेदाद् भिन्नः) आधारों पर भिन्न है।

१. 'बोद्धृभेद' से तात्पर्य यह है कि व्यंग्यार्थ के बोद्धा को ही सहृदय कहते हैं, अन्य को केवल ज्ञाता मात्र।

२. वाच्यार्थ कहीं विधिपरक होता है, व्यंग्यार्थ निषेधपरक, और कहीं इनकी स्थिति विपरीत होती है। प्रथम का उदाहरण 'भ्रम धार्मिक' आदि और द्वितीय का 'निःशेषच्युत' आदि श्लोक है।

३. संख्याभेद का अर्थ है कि वाच्यार्थ एकरूप और नियत होता है, व्यंग्यार्थ अनेक रूप जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' में, यही उदाहरण आचार्य मम्मट जी प्रस्तुत कर चुके हैं।

४. निमित्त भेद—वाच्यार्थ का निमित्त, मात्र शब्द ज्ञान है, परन्तु व्यंग्य की प्रतीति, के लिये सहृदयत्व प्रतिभानैर्मल्य भी अपेक्षित है।

५. कार्य भेद—वाच्यार्थ का कार्य प्रतीति मात्र है, व्यंग्यार्थ का कार्य चमत्कारोत्पत्ति है।

६. प्रतीति भेद—वाच्यार्थ की प्रतीति शब्दबोध के रूप में ही होती है, व्यंग्यार्थ की प्रतीति चमत्कारमय होती है।

७. काल भेद—वाच्यार्थ प्रतीति के पश्चात् व्यंग्यार्थ प्रतीत होती है।

८. आश्रय भेद—वाच्यार्थ शब्दाश्रित ही है, व्यंग्यार्थ प्रतीति शब्द उसके अंश, वर्णसंघटना से ही हो सकती है।

९. विषय भेद—यथा 'कस्य वा भवति…रोषो…'आदि श्लोक में वाच्यार्थ का विषय सखी और व्यंग्यार्थ का विषय पति है।

अतः अभिधेय और व्यंग्य एक ही नहीं है।

रसप्रतीति में व्यञ्जना की अनिवार्यता

रसप्रतीति अभिधा अथवा लक्षणा से नहीं हो सकती, इस प्रसंग में कविराज विश्वनाथ का मत है कि लक्षणा और अभिधा उन्हीं अर्थों का बोध कराती हैं जिनका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. सा० द० पृ. ३४४ पञ्चमः परिच्छेदः।

पूर्व सत्त्व हो, परन्तु अनुभव के पूर्व तो रस का सत्त्व होता ही नहीं, इसलिये अभिधा और लक्षणा रसप्रतीति में हेतु नहीं हो सकती है—

प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे ।

इसकी व्याख्या में श्री कृष्णमोहन ने कहा है—'प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरसिद्धमेव वस्तु लक्षणाभिधे बोधयत:, यथा गंगाशब्दीयलक्षणा पूर्वं प्रत्यक्षादिसिद्धं तीरं बोधयति ।' पुन: लक्षणा द्वारा अर्थ प्रतीति में मुख्यार्थ बाधादि तीन लक्षणाबीजों की अपेक्षा भी होती है और रसप्रतीति में मुख्यार्थबाधादि नहीं होते । अत:—

'किंच मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा ।'

यहाँ 'मुख्यार्थबाध कहा है, इसमें 'तद्योग' रूढि अथवा प्रयोजन, इन दो लक्षणा बीजों का भी संग्रह समझना चाहिये । तथा 'विरहादपि लक्षणा' में 'विरहादपि लक्षणा न बोधिका' अर्थग्रहण करना चाहिये । अभिधा अथवा लक्षणा से रस रूप अर्थ की प्रतीति तव संभव थी जब चर्वणारूप व्यापार से भिन्न, कोई रस रूप अर्थ रसादि पदों से वाच्यवाचक रूप में अथवा लक्ष्य-लक्षक रूप में संबद्ध होता । लक्षणा का प्रवेश वहीं होता है, जहाँ 'गंगायां घोष:' आदि प्रयोगों में पदों का अन्वय बोध होते हुए भी अनुपपन्न प्रतीत हो, और अनुपपत्ति के कारण बाधित हो जाय । अपने इस कथन की पुष्टि में कविराज विश्वनाथ ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' से यह श्लोक उद्धृत किया है—

श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ।।

श्रुत पदार्थों के अन्वय (अबाधित अन्वय) में ही निराकांक्ष वाक्य अन्य अर्थ की इच्छा नहीं करते । पदार्थों के अन्वय की अनुपपत्ति (वैधुर्य) अन्य अर्थ के आक्षेप से संगत होती है । उदाहरण के लिये यह श्लोक लें—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै---
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य, जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्,
लज्जानम्रमुखी, प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ।।[1]

यह संभोग शृङ्गार का उदाहरण है—इसका अर्थ है "वासगृह को शून्य देखकर (शून्यं वासगृहं विलोक्य), खाट से उठकर (शयनादुत्थाय), निद्रा का बहाना कर लेटे हुए पति के मुख को (निद्राव्याजमुपागतस्य पत्युर्मुखम्) देर तक देखकर (सुचिरं) निश्चिन्तता से चूम लिया (विश्रब्धं परिचुम्ब्य) परन्तु प्रियतम

१. काव्य प्रकाश सं. आ. वि. चतुर्थ उल्लास पृ. १२२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के कपोल पर रोमांच देखकर लज्जित हुई वह बाला हँसते हुए प्रियतम द्वारा (जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं लज्जानम्रमुखी बाला हसता प्रियेण) देर तक चुम्बित हुई (चिरं चुम्बिता)।

आचार्य मम्मट द्वारा भी संभोग शृङ्गार का यह उद्धरण दिया गया है, इसमें रस प्रतीति है पर मुख्यार्थबाध कहीं नहीं है। श्लोक के पदार्थों का अन्वय पूर्ण रूप से उपपन्न है, अतः यहाँ लक्षणा का प्रवेश नहीं है, पर रस की प्रतीति है ही।

प्रयोजन के कारण ही लक्षणा होती है। प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती। 'गंगायां घोषः' में 'तट' लक्ष्यार्थ है, तथा शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन, 'शैत्य पावनत्वादि' को लक्ष्यार्थ मानने के निषेध में कविराज विश्वनाथ ने उन्हीं तर्कों का पुनःकथन किया है, जो आचार्य मम्मट कह चुके हैं। अर्थात् शैत्य पावनत्वादि को लक्ष्यार्थ मानने में इसका कोई प्रयोजन अपेक्षित होगा, फिर उसका भी कोई प्रयोजन—इस प्रकार अनवस्थादोष होगा। और 'तट' मुख्यार्थ नहीं हो सकता, हो भी तो अनुपपन्न न होने से उसका बाध नहीं होता।

प्रयोजन विशिष्ट लक्षणा इसलिये नहीं मानी जा सकती कि मीमांसक और नैयायिकों के क्रमशः ज्ञातता और अनुव्यवसाय सिद्धान्तों में भी ज्ञान का विषय 'नीलादि' तथा उनके फल में भिन्नता है। ज्ञान का विषय और उसका फल, पृथक्-पृथक् होते हैं, इसलिये, लक्षणा विषयक ज्ञान का विषय तट और उसका फल शैत्य-पावनत्वादि की प्रतीति पृथक्-पृथक् ही माननी होगी। इसे कविराज ने अत्यन्त संक्षेप में कहा है—

'नीलादिसंवेदनानन्तरमेव हि ज्ञातताया अनुव्यावसायस्य वा संभवः।'[1]

इस प्रकार लक्षणा में, व्यञ्जना का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। रस रूप अर्थ की प्रतीति हेतु व्यञ्जना नामक चतुर्थ वृत्ति स्वीकारनी ही होगी।

रस अनमेय भी नहीं है—

व्यंग्यार्थ की अनुमेयता का प्रत्याख्यान कर, व्यंग्य 'रस' की अनुमितिगम्यता का निषेध, आचार्य आनंदवर्धन और तदनन्तर आचार्य मम्मट कर चुके थे। कविराज विश्वनाथ ने इस प्रसंग को रस की अनुमेयता से ही प्रारंभ किया है। आचार्य मम्मट ने महिम भट्ट द्वारा विवेचित उद्धरणों में 'हेतु' को हेत्वाभास सिद्ध कर अनुमान की प्रक्रिया में व्यंजनान्तर्भाव को दोषपूर्ण सिद्ध किया था। कविराज विश्वनाथ, ने तर्क तो आचार्यमम्मट से ही ग्रहण किया और द्वितीय उनका अपना है। कविराज के अनुसार—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. सा० दर्पण सं. डॉ० सिंह पं. परिच्छेद पृ. ३४६,

नानुमानं रसादीनां व्यंग्यानां बोधनक्षमम् ।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥

व्यंग्य रसादि का बोध करने में अनुमान-प्रक्रिया समर्थ नहीं है, क्योंकि हेतु हेत्वाभास हो जाते हैं और रसादि का ज्ञान (रसादिधीः) स्मृति भी नहीं है। व्यक्तिविवेक के रचयिता महिमभट्ट के मत को उद्धृत कर कविराज विश्वनाथ ने उसका खंडन किया है—महिमभट्ट का मत है—

'यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति । विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते । ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्तानानुमापयन्त एव रसादीन्निष्पादयन्ति । त एव प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रस उच्यन्त इति, अवश्यम्भावी तत्प्रतीतिक्रमः केवलमाशुभावितयासौ न लक्ष्यते, यतोऽयमद्याऽप्यभिव्यक्तिक्रमः' इति यदुक्तम् ।

विभावादि के द्वारा जो रस की प्रतीति होती है वह अनुमान के अंतर्गत ही है। क्योंकि रसादि की प्रतीति में विभावानुभाव व्यभिचारी साधन कहे जाते हैं। ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव ही रत्यादि भावों के क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी होकर, उनका अनुमान कराते हुए ही रस का निष्पादन करते हैं। ये विभावादि बार-बार अनुशीलन के विषय बन आस्वादपदवी को प्राप्त होते हुए 'रस' रूप हो जाते हैं। अतः निर्विवाद रूप से विभावादि की प्रतीति और रस प्रतीति में पौर्वापर्य क्रम मानना होगा, परन्तु अत्यन्त लघु होने से यह क्रम दिखलाई नहीं पड़ता। रस की अभिव्यक्ति मानने में भी यह क्रम स्वीकार करना पड़ेगा। जब विभावादि की प्रतीति और रस प्रतीति में क्रम मान लिया तो इनमें साधन-साध्य भाव की स्थापना सिद्ध हो गई और साधन (हेतु) की सहायता से साध्य का ज्ञान तो अनुमान द्वारा ही होता है। इसलिए विभावादि रूप हेतु से रस रूप साध्य का ज्ञान अनुमान ही है। महिमभट्ट की उपर्युक्त धारणा के विषय में कविराज विश्वनाथने दो शंकाएँ उपस्थित की है––

(१) क्या व्यक्तिविवेककार का यह आशय है कि काव्य में वर्णित अथवा नाटक में **प्रदर्शित** विभावादि के द्वारा रामादिगत रत्यादि का अनुमान होता है। अथवा

(२) व्यक्तिविवेककार का 'रस' से तात्पर्य उस स्वप्रकाशानंद रस से है जो काव्य-नाटक द्वारा समर्पित विभावादि द्वारा भावुक के हृदय में उद्‌बुद्ध होता है।

प्रथम शंका में कोई अधिक विवाद नहीं है, क्योंकि रामादिगत रति का अनुमान माना जा सकता है, तब भी रामादिगत रागादि का ज्ञान ही रस संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परन्तु द्वितीय शंका महान विवाद उत्पन्न करती है। सामाजिक के हृदय में उद्‌बुद्ध स्वप्रकाशानंद रूप रस को अनुमान का विषय मानने पर 'हेतु' ही नहीं बनेगा। जिसे हेतु कहा जा सकेगा, वह हेत्वाभास होगा क्योंकि व्याप्ति नहीं बनती। इस स्वप्रकाशानंद रूप रस को अनुमान का विषय बनाने वाले व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं–

'जहाँ जहाँ इस प्रकार का विभावानुभावव्यभिचारी का कथन अथवा अभिनय होता है, वहाँ वहाँ शृंगारादि रस का आविर्भाव भी होता है।'

इस प्रकार व्याप्ति भी है और पक्षधर्मता भी। निष्कर्ष रूप में महिम भट्ट ने कहा—

याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन संमता॥ इति

आप (व्यंजनावादियों) द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति में जिस सामग्री का निबंधन होता है, वही सामग्री, हमलोगों द्वारा अनुमिति पक्ष में 'गमक' रूप में संमत है।

रसानुमिति मानने वालों ने जो स्थापना की वह यह कि 'जहाँ जहाँ विभावादि का वर्णन है वहाँ, वहाँ, शृंगारादि रस का आविर्भाव है, इस स्थापना से व्यंजनावादियों को भी कोई विरोध नहीं है। इस अनुमान के कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से ध्वनिवादी भी यही सिद्ध करते हैं कि जहाँ-जहाँ विभावादि का वर्णन होता है, रस प्रतीति भी होती है, जहाँ विभावादि का वर्णन नहीं होता रस प्रतीति भी नहीं होती। इसीलिये कविराज ने कहा—

'इदमपि नो न विरुद्धम्'

परन्तु यह प्रतीति जो अनुमितिवादियों ने इस कथन–

'सभ्यो रसादिप्रतीतिमान् विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्'

में मानी है, 'रस' रूप में ध्वनिवादियों को ग्राह्य नहीं है—"न हि एवंविधा प्रतीतिरास्वाद्यत्वेनास्माकमभिमता।" अनुमिति में जो प्रतीति कही गई है वह 'रसादि-
विषयक बोध' तो है—'आस्वाद रूप रस' नहीं हैं। अनुमान से ज्ञात रसादिविषयक
प्रतीति और प्रत्यक्ष अनुभूत रसादिस्वरूप प्रतीति दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। ध्वनिवा-
दियों के अनुसार निरंतर आनंद के अतिशय से युक्त, अपने ही प्रकाशमात्र में विश्रान्त
प्रतीति 'रस' है (किंतु, स्वप्रकाशमात्रविश्रान्तः सान्द्रानन्दनिर्भरः) वही प्रतीति-
स्वरूप रस ध्वनिवादियों को अभिमत है और वही सहृदयों द्वारा अनुभूयमान है।
रसानुमितिवादियों के मत में रसादिविषयक ज्ञान का निरंतर आनंद निर्भर स्वप्रका-
शकत्व संभव ही नहीं है। कविराज विश्वनाथ के मतानुसार 'विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्'
हेतु ही नहीं हो सकता। क्योंकि रसादिविषयक प्रतीति और रसादिरूप में प्रतीति भेद

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होने से, उस प्रकार की अनुमिति में आस्वाद्यत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रसंग में साध्य है स्वप्रकाशानन्दरूप रस और जो सिद्ध हो रही है रसादिविषयक प्रतीति। इस प्रकार हेतु 'विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्' साध्य 'रस' के स्थान—'रसादि-विषयक प्रतीति' को सिद्ध कर रहा है। अतः यह शुद्ध हेतु नहीं, हेत्वाभास है। जिसे करने की आकांक्षा हो, उस से भिन्न साध्य की सिद्धि करने के कारण हेतु में आभासता हो जाती है—

'तेनात्र सिषाधयिषितादर्थादर्थान्तरस्य साधनाद्धेतोराभासता'

'विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्' हेतु में एक और भी दोष है कि विभावादि की प्रतीति तो मीमांसक वृद्ध और वैयाकरणों को भी होती है पर 'रसस्वरूप' की प्रतीति नहीं होती (रसादिरूपसाध्यवति श्रोत्रियजरन्मीमांसकादौ च रसादिरूपसाध्याभाववति विभावादिप्रतीतिरूपहेतोर्वृत्तितया साधारणाख्यहेत्वाभास एवेति भावः) अतः 'विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्' और 'रसादिप्रतीतिमान्' में व्याप्ति ही नहीं बनती। वस्तुतः तो अनुमित्सा का अभाव होने से साक्षात् अनुभूत स्वप्रकाशानन्द स्वरूप रस अनुमेय होता ही नहीं।

महिमभट्ट ने जो 'यार्थान्तराभिव्यक्तौ……… आदि श्लोक में कहा कि जो सामग्री अर्थान्तर की प्रतीति में व्यंजनावादियों को इष्ट है, वही अनुमिति में हमें भी सम्मत है।' यह भी अयुक्त हैं। क्योंकि विभावादि की प्रतीति के साथ-साथ अनुमान नहीं हो सकता। विभावादि व्यंजक तो हो सकते हैं, व्यंजक की विशेषता ही यही है कि वह स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य को प्रकाशित करता है। व्यंग्य के ज्ञान के समय व्यंजक का भी अनुवर्तन होता रहता है। वाच्यार्थ से सम्बन्ध पूर्वक ही व्यंग्य का ज्ञान होता है। और यह प्रतीति प्रतिभासम्पन्नों (प्रतिभाजुषाम्) को ही होती है। इसलिये वाच्यार्थ के अनुवर्तन पूर्वक व्यंग्यार्थ प्रतीति अतिप्रसंग नहीं कही जा सकती। अतः व्यंजना में तो विभावादि के साथ रसप्रतीति गौरव की ही बात है परन्तु अनुमिति में यह दोष है। अतः रस तो व्यंग्य ही होगा, अनुमेय नहीं।

वस्तुरूप प्रतीयमान और अलंकार रूप प्रतीयमान अर्थ भी अनुमेय
वस्तुरूप प्रतीयमान अर्थ के उदाहरण स्वरूप वही प्रसिद्ध गाथा 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः……'आदि दी गई है और प्रतीयमान अलंकार के उदाहण स्वरूप यह श्लोक उद्धृत किया है—

जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनःपिहितराधिकावदनः।
जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः॥

जलक्रीडा के समय राधा के मुख को बार-बार ढँकते और मुक्त करते हुए, चक्रवाक युग्म के संयोग और वियोग में कौतुक (आनन्द) लेने वाले, श्री कृष्ण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जगत की रक्षा करें। प्रस्तुत श्लोक में रूपक अलंकार शब्द द्वारा कथित नहीं है तथापि उसकी प्रतीति होती ही है, क्योंकि राधा के मुख पर चन्द्र का अभेद आरोप होने पर ही, मुखरूपी चन्द्र के ढँकने से चकवा-चकवी का संयोग और मुक्त होने से वियोग सम्भव होगा।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में—'भ्रम धार्मिक' और 'जलकेलि……' आदि में महिमभट्ट ने अनुमान प्रक्रिया घटित की है। महिमभट्ट का मत है कि 'पक्षसत्त्व' विपक्ष व्यावृत्त और सपक्षसत्त्व आदि तीन विशेषताओं से युक्त लिंग द्वारा लिंगी का अनुमान होता है। और वाच्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति तो हो नहीं सकती। अन्यथा अतिप्रसङ्ग उत्पन्न होगा। जिस भी अर्थ से जो भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इसलिये वाच्यार्थ में और प्रतीयमानार्थ में वोध्य-बोधक भाव होना ही चाहिये, और बोधक तो लिंग ही है। तथा बोधक अर्थ का पक्षसत्त्वत्व भी सिद्ध है। इसलिये वाच्यार्थ रूपलिंग से प्रतीयमान अर्थ रूप लिंगी की प्रतीति अनुमान ही है।

'भ्रम धार्मिक……' आदि गाथा में महिम भट्ट ने कहा है—'गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति' आचार्य मम्मट के तर्क को ही ग्रहण करते हुए, कविराज विश्वनाथ ने भी 'सिंहोपलब्धि' हेतु को अनैकान्तिक, असिद्ध और विरुद्ध कहा है—मम्मटाचार्य के प्रसंग में हम इसे विस्तृत रूप से कह आये हैं—यहाँ कविराज का कथन यथावत् उद्धृत किया जा रहा है—

'यद्वक्तव्यं तत्रानैकान्तिको हेतुः। भीरोरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण वा गमनस्य संभवात्, पुंश्चल्या वचनं प्रामाणिकं न वेति संदिग्धासिद्धेश्च।'[1]

'जलकेलि…' आदि श्लोक में, 'राधिकावदन चंद्र अपने दर्शन अथवा अदर्शन से चक्रवाक के वियोग अथवा संयोग का जनक है।' इसलिये यहाँ भी अनुमान कहा जाता है, पर यह उचित नहीं है, क्योंकि चक्रवाक का संयोग और वियोग के अन्य कारण जैसे संत्रास के कारण की उपस्थिति आदि भी हो सकते हैं।

एक अन्य प्रकार से भी अनुमान प्रक्रिया घटित की जा सकती है—इस प्रकार का अर्थ (एवंविधोऽर्थः) उस प्रकार के अर्थ का बोधक है (एवंविधार्थबोधकः) ऐसा होने से (एवंविधार्थत्वात्) यदि यह बोधक अर्थ ऐसा न होता (यन्नैवं) तो वैसे अर्थ का बोधक न होता (तन्नैवम्)

परन्तु, इसमें भी हेतु—हेत्वाभास के समकक्ष होने से अनुपयुक्त ही है। इसी प्रकार—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. साहित्य-दर्पण—डॉ० सिंह. पृ. ३५४.

दृष्टि हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि[1]
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलम्
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥

यह नायिका का कथन है, वह उपपति से मिलने के लिए झरने के निकट जाना चाहती है। संभोग के प्रसंग में स्तनों पर नखक्षत आदि बनेंगे; उन्हें छिपाने के लिए वह पहले से ही कह देती है कि—'हे पड़ौसिन (हे प्रतिवेशिनि !) क्षणभर को (क्षणम्) मेरे इस घर पर भी दृष्टि रखना (इहाप्यस्मद्गृहे दृष्टि दास्यसि) इस लड़के का पिता कुए का खारा पानी नहीं पीता (प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति) अतः अकेली भी जाऊँगी, शीघ्रता से लौटूंगी, भले ही स्रोत के निकट उगे हुए नल के तनों से शरीर पर खरौंच हो जाएँ ।"

यहाँ अनुमानवादियों के अनुसार, 'एकाकी गमन' और नलग्रन्थियों से पड़े निशान' का कथन, उपपति से उपभोग का अनुमान कराते हैं। परन्तु ये हेतु भी अनैकान्तिक है, क्योंकि झरने पर जाने के अन्य कारण भी हो सकते हैं। श्लोक में हीं 'पति के प्रेम के कारण जल लाने अकेली भी जाने की बात कही ही गयी' खरौच का कारण भी उत्पन्न है। अतः यहाँ भी अनुमान नहीं कहा जा सकता।

और—

निःषशेच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृंष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

'तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चंदन छूट गया है, अधर का राग भी छूट गया, नेत्र भी अंजन रहित हैं, शरीर भी पुलकित है झूठी दूती वापी स्नान के लिये गई थीं, उस अधम के पास नहीं।'

कविराज विश्वनाथ अनुमान के प्रसंग में यहाँ तीन संभावनाएँ उपस्थित करते हैं[2]—

(१) नायिका की इस उक्ति से दूती स्वयं अपनी ही रतिक्रीड़ा का अनुमान करती है ? (दूत्यास्तत्कामुकोपभोगोऽनुमीयते ?)

[(२) अथवा वहाँ उपस्थित अन्यों के द्वारा दूती की रति क्रीड़ा का अनुमान किया जा रहा है ? (तत्कि प्रतिपाद्यतया दूत्याः तत्कालसंन्निहितैर्वान्यैः)

---

१. ;,   ,,   ,, २९२

२. सा० दर्पण सं. डा. सिंह पृ. १५५ तृ० परिच्छेद ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

[(३) अथवा सहृदयों द्वारा दूती की रतिक्रीड़ा का अनुमान किया जा रहा है (तत्काव्यार्थभावनया वा सहृदयैः)

प्रथम संभावना में अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि दूती प्रत्यक्ष ही उसका भोग कर चुकी हैं। द्वितीय संभावना भी नहीं है क्योंकि अन्य उपस्थित जन, चंदन च्यवनादि का कारण 'वापी स्नान' को मान ही सकते हैं। सामाजिक के अनुमान के संबंध में विवाद है। अनुमान के जो हेतु अनुमितिवादियों द्वारा इस श्लोक में कहे गये हैं, वे व्यभिचरित हैं। यथार्थ में भी वापी स्नान से 'चंदनच्यवनादि' संभव है, ये उपभोग के ही कार्य कैसे कहे जा सकते हैं ?

व्यंजनावादी तो इस श्लोक में प्रयुक्त 'अधम' पद के 'व्यंजकत्व' से व्यंग्यार्थ की प्रतीति मानते हैं। नायक है ही अधम इसलिये उसने तेरे साथ संभोग किया ही होगा।

अनुमानवादी तो 'अधमत्व' का भी प्रमाण चाहेंगे पर व्यंजनावादी को 'अधमत्व' के प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है। अतः 'अधमत्व' से अनुमान नहीं हो सकता, पर व्यंजना तो हो सकती है। अनुमान से ही जब व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती तब अर्थापत्ति द्वारा व्यंग्यार्थ प्रतीति की संभावना ही नहीं रह जाती। अर्थापत्ति भी एक प्रकार की अनुमिति ही है।[1]

व्यंग्यार्थ, सूचन बुद्धि का भी विषय नहीं है।[2] क्योंकि सूचन बुद्धि भी एक प्रकार से अनुमान ही है जो 'संकेत देने' और 'संकेत समझने' की व्याप्ति पर निर्भर है।[3]

पंचम परिच्छेद की चतुर्थकारिका में ही कविराज विश्वनाथ ने कहा था—'स्मृतिर्न च रसादिधीः' अर्थात् रसादिज्ञान स्मृति भी नहीं है। संस्कारजन्यता के कारण रसादि रूप अनुभूति को 'स्मृति' नहीं समझना चाहिये। 'संस्कारजन्यता' को हेतु मानने पर 'रस' 'स्मृति' ही नहीं 'प्रत्यभिज्ञा' रूप सिद्ध हो जायगा, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा भी संस्कारजन्य होती है। अतः 'रस' को स्मृति रूप सिद्ध करने में 'संस्कारजन्यता' हेतु नहीं हो सकती है वह रस को 'स्मृति' ही नहीं 'प्रत्यभिज्ञा' भी सिद्ध कर देने के कारण हेत्वाभास है।

'दुर्गालंघितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा,
प्रोद्यद्राजकुलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनु राजत्युमावल्लभः ॥

में महिमभट्ट अन्य अर्थ की प्रतीति ही नहीं मानते। तो ऐसे अनुभव सिद्ध अर्थ की अप्रतीति मानना गजनिमिलिका के समान ही है।

---

१. सं० डा० सिंह ३५६ पं० परिच्छेद।
२. 'सूचनाबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति'··· ३५६ ,,
३. संकेतादिलौकिकप्रमाणसापेक्षत्वेनानुमानप्रकारताङ्गीकारात् पृ. वही।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसलिये--निष्कर्षत:--रस भावादि रूप अर्थों की प्रतीति हेतु, अनुमान से भिन्न और अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति से भिन्न चतुर्थ वृत्ति माननी होगी। इस चतुर्थ वृत्ति को विद्वानों ने 'व्यंजना' कहा है और रसादि व्यक्ति में अन्य इसे 'रसना' भी कहते हैं—

सा चेयं व्यंजना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः ॥[1]

३. पंडितराज जगन्नाथ

पंडितराज जगन्नाथ कृत 'रसगंगाधर' 'साहित्य शास्त्र' का प्रौढ ग्रन्थ कहा जाता है। ग्रन्थ के केवल दो आनन ही उपलब्ध हैं। इन दो आननों में से प्रथम में, काव्य का लक्षण, काव्य के चार भेद, रस-स्वरूप, रस-संख्या, रस-दोष, गुण निरूपण, शब्द गुणों के लक्षण, अर्थ गुणों के लक्षण और भाव विवरण है। द्वितीय आनन में संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के भेदों का निरूपण और अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण हैं। तर्कपूर्ण शैली में गद्य के माध्यम से पण्डितराज ने पूर्व आचार्यों के मतों की आलोचना कर स्वमत का स्थापन किया है।

परन्तु 'व्यंजना' के प्रसंग में स्वतन्त्र विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है। उपलब्ध ग्रन्थ भाग 'ध्वनि' तथा उसके भेदों का निरूपण है, इससे यह सिद्ध ही है कि पण्डितराज जगन्नाथ को व्यंग्य अर्थ की कल्पना स्वीकृत है। उन्होंने व्यंग्यार्थ की प्रधानता, गौणता आदि के आधार पर ही काव्य के चार भेद किये हैं। उनका विवेचन यहाँ किया जायगा।

साथ ही यह भी कह देना प्रसङ्गप्राप्त है कि संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि प्रसङ्ग में व्यञ्जना के सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ का कुछ मतभेद भी है। अतः पण्डितराज जगन्नाथ का व्यंजना विषयक मत जानने के लिये, इन दोनों ही प्रसङ्गों का विवेचन अपेक्षित है।

काव्य के प्रकार—आचार्य आनन्दवर्धन से आचार्य मम्मट तक की ध्वनिवादी आचार्य परम्परा काव्य के तीन प्रकार—उत्तम, मध्यम और अधम मानती रही थी। ध्वनिवादी आचार्यों की परम्परा से भिन्न पण्डितराज जगन्नाथ काव्य के चार प्रकार मानते हैं—

'तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा'

अर्थात् काव्य, १. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम और ४. अधम, इस प्रकार चार प्रकार का होता है।

---

१. सा० द० सं० डॉ० सिंह० पं० परिच्छेद पृ० [illegible]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण इस प्रकार है--

'शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थं मभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्' जिसमें शब्द और अर्थ स्वयं को गौण कर (गुणीभावितात्मानौ) किसी चमत्कार जनक अर्थ को, (प्रधान को) व्यक्त करें---व्यंजना वृत्ति द्वारा--वह उत्तमोत्तम काव्य है।[1] इस परिभाषा में प्रयुक्त पदों की व्याख्या करते हुए स्वयं पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं--

"कमपीति---चमत्कृतिभूमिम्, तेनातिगूढस्फुटव्यंग्ययोर्निरासः। अपराङ्गवाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय—गुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यंग्यप्राधान्याभिप्रायकम्"

व्यंग्यार्थ न तो अत्यन्त गूढ हो, न अत्यन्त स्फुट हो, व्यंग्य की सहायता से जहाँ वाच्य की सिद्धि हो, वे स्थल भी उत्तमोत्तम काव्य के स्थल नहीं हो सकते। शब्द और अर्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होनी चाहिये। परिभाषा आचार्य आनन्द वर्धन ने ध्वनि काव्य की दी है और उसे उत्तम काव्य कहा है।

इस प्रकार उत्तमोत्तम काव्य की परिभाषा देने के उपरांत, पंडितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित कृत 'निःशेषच्युत' तथा 'भ्रम धार्मिक···'आदि श्लोकों की व्याख्या में दोष दिखलाते हुए निष्कर्ष रूप में कहा है कि—"निःशेषच्युत···आदि श्लोक में नायिका को यदि दूती से स्नान की ही बात कहनी होती, तो फिर इस तरह दो-दो अर्थों वाले पदों के प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी ? इत्यादि तब सहृदयों के मस्तिष्क में यह बात आयेगी कि हमने जो 'नायिका साधारण दुःख देने के कारण ही नायक को अधम कह रही है' ऐसा वाच्यार्थ समझा है, वह ठीक नहीं है अवश्य कोई विशेष कष्ट नायिका को नायक ने दिया है, अतः वह नायक को अधम कह रही है, परन्तु वह विशेष कष्ट कौनसा हो सकता है ? इस तरह जिज्ञासा होने पर व्यञ्जनावृत्ति द्वारा यह ज्ञात होता है कि नायक ने इस दूती के साथ संभोग किया है—जिसका ज्ञान हो जाने से नायिका को दुःख हो रहा है और साथ ही कुछ क्रोध भी, अतएव नायिका

---

१. यत्र काव्ये, शब्दो वाचकः, अर्थो वाच्यश्च गुणीभावितात्मानौ, व्यङ्ग्यार्थापेक्षयाऽप्रधानीकृतस्वरूपौ कमपि चमत्कारातिशयाधानेनानिर्वचनीयं प्रधानमर्थम् अभिव्यंक्तो व्यंजनया बोधयतः, तत् काव्यमाद्यमुत्तमोत्तमं भवतीत्यर्थः········ रसगंगाधर आ० बदरीनाथ झा पृ. ३३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. रसगंगाधर, सं. आ बदरीनाथ झा पृ. ३४

पतिव्रता होकर भी पति के प्रति कटु वचन का प्रयोग कर 'अधम' कह रही है।"[1] इस कथन से स्पष्ट है कि पंडितराज जगन्नाथ व्यंजना व्यापार के विषय में मम्मटादि आचार्यों से ही अनुमत हैं। उत्तम काव्य का लक्षण पंडितराज ने इस प्रकार किया है–

'यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्'[2] जहाँ व्यंग्य अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण हो, वह द्वितीय प्रकार का काव्य 'उत्तम' काव्य है। इसका आशय यह है कि ऐसा भी काव्य हो सकता है जिसमें व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अथवा अन्यव्यंग्यार्थों की अपेक्षा प्रधान न हो, परन्तु वह व्यंग्यार्थ प्रधान न होकर भी चमत्कार उत्पन्न करता हो। व्यंग्य की ऐसी स्थिति जिस काव्य में हो वह, पंडितराज के अनुसार द्वितीय प्रकार का उत्तम काव्य है। उत्तम काव्य के लक्षण में 'व्यंग्यमप्रधानमेव' साभिप्राय कथन है। यदि 'एव' का प्रयोग न करें तो अर्थ होगा कि 'अप्रधान होकर व्यंग्य चमत्कार का जनक हो'। ऐसा कहने पर जहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान (वाच्यापेक्षया प्रधानीभूत) और व्यंग्यान्तर से गौण होगा वहाँ भी इस लक्षण की व्याप्ति होने लगेगी। जैसे–

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

'यह वही करधनी खीचनेवाला, पुष्ट स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, ऊरु, और जघनों का स्पर्श करने वाला, नीवी को खोलने वाला हाथ है।'

यहाँ, करुण और शृंगार दोनों ही व्यंग्य है। परन्तु मृत नायक भूरिश्रवा के प्रति उसकी पत्नी का कथन होने से 'करुण' प्रधान व्यंग्य हैं, और शृंगार गौण। शृंगार गौण व्यंग्य होते हुए भी, वाच्यार्थ से प्रधान है। यदि उत्तम काव्य के लक्षण में 'अप्रधानमेव' के स्थान पर 'अप्रधानम्' ही कहा जाय तो यहाँ भी उत्तम काव्य का लक्षण घटित होगा। इस 'अतिव्याप्ति' से बचने के लिये 'प्रधानमेव' कहा है। अर्थात् व्यंग्यान्तर और वाच्य दोनों से ही गौण होकर भी यदि व्यंग्य चमत्कार का जनक हो तो उत्तम काव्य होगा।

---

१. एवं साधारणेष्वेषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात् तात्पर्यार्थस्य झटित्यनाकलनात् कुतोऽत्र लक्षणाऽवकाशः। अनन्तरं च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्धव्यनायकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपराधान्तर-निमित्तकदुःखदातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसंभोगनिमित्तक-दुःखदातृत्वाकारेण पर्यवस्यतीत्यालंकारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः। 'रसगंगाधर', प्र० आ० सं० बदरीनाथ झा, पृ० ५७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. 'रसगंगाधर' ,, ,, पृ० ६१

इस लक्षण में 'चमत्कारकारकम्' भी विशेष अभिप्राय से कहा गया है। चित्रादि काव्यों में व्यंग्य लीन रहता है, चमत्कार उत्पन्न नहीं करता। चमत्कारकारक कह कर चित्रादि काव्य से भेद कहा गया है।

मध्यम काव्य का लक्षण पंडितराज ने इस प्रकार कहा है—

'यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तृतीयम्'।[1]

जहाँ वाच्य का चमत्कार, व्यंग्य चमत्कार के अधीन न हो। व्यंग्यार्थ का चमत्कार होते हुए भी उसकी प्रतीति न हो, वाच्यार्थ के चमत्कार में ही वह अंतर्भुक्त हो जाय, वहाँ मध्यम काव्य है। इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि मध्यम काव्य में व्यंग्यार्थ का अभाव पंडितराज को इष्ट नहीं है, क्योंकि कोई भी वाच्यार्थ ऐसा नहीं हो सकता जो स्वयं, बिना किसी भी अंश में व्यंग्यार्थ की सहायता के चमत्कार उत्पन्न कर सके। वाच्यार्थ चमत्कार उत्पन्न करे इसके लिये यह आवश्यक है कि, वह किसी व्यंग्यार्थ से सम्बन्धित हो।

यद्यपि द्वितीय और तृतीय दोनों ही भेदों में व्यंग्य अप्रधान है, तथापि द्वितीय भेद में व्यंग्य अप्रधान होकर भी चमत्कार का जनक होता है परन्तु तृतीय में चमत्कार का जनक नहीं होता और अनुभव के अयोग्य होता है। ऐसे अलंकार युक्त काव्यों में जहाँ व्यंग्य गौण होकर भी चमत्कार जनक हो जैसे समासोक्ति में, वहाँ द्वितीय प्रकार का काव्य समझना चाहिये, और जहाँ व्यंग्य गौण भी हो, चमत्कारी भी न हो जैसे दीपकादि में वहाँ तृतीयप्रकार का काव्य मान लेना चाहिये।

अधमकाव्य का लक्षण है—

"यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम्'[2] जहाँ वाच्यार्थ के चमत्कार से परिपोषित शब्द की चमत्कृति ही प्रधान हो, वह चतुर्थ काव्य प्रकार 'अधम' कहलाता है। अधम काव्य का उदाहरण है—

मित्रात्रिपुत्रनेत्राय, त्रयीशात्रवशत्रवे।
गोत्रारिगोत्रजत्राय, गोत्रात्रे ते नमो नमः॥[3]

यह भक्त द्वारा भगवान की स्तुति है—'मित्र (सूर्य) और अत्रिपुत्र (चंद्र) जिसके नेत्र हैं जो, वेदत्रयी के शत्रुओं के शत्रु (त्रयीशात्रवशत्रवे) हैं, पर्वत के शत्रु इन्द्र के वंशजों के रक्षक (गोत्रारिगोत्रजत्राय) हैं, गो रक्षक (गोत्रात्रे) हैं, ऐसे भगवान अथवा वृषभवाहन शिव को नमस्कार है। यहाँ वृत्त्यनुप्रासरूप अलंकार

१. रसगंगाधर, प्र० आनन, पृ. ७० सं० बदरीनाथ झा
२. ,, ,, पृ. ७२ ,, ,,
३. ,, ,, ,, ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का ही चमत्कार है। इसी शब्द चमत्कार में वाच्यार्थ और भावरूप व्यंग्य लीन हो रहे हैं कवि का प्रयास, शब्द चमत्कृति में ही है। एकाक्षर पद्यादि में पंडितराज काव्य का प्रसार नहीं मानते। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने चित्रादि काव्य में, इस प्रकार के प्रयत्नों (एकाक्षरपद्यादि) को भी स्वीकार किया है। परन्तु मात्र अन्धानुकरण के लिये भी पंडितराज वैसा नहीं मान सके, क्योंकि व्यवहार से उनका अकाव्यत्व ही सिद्ध है।[1] तृतीय और चतुर्थ भेद जो यहाँ कहे गये हैं, दोनों समान नहीं है, तृतीय का अर्थ चमत्कार और चतुर्थ का शब्द मात्र चमत्कार भिन्न-भिन्न है, अतः ये एक कोटि के नहीं हैं।

यदि किसी काव्य शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार हो तो प्राधान्य के आधार पर उसे तृतीय अथवा चतुर्थ प्रकारान्तर्गत रखना होगा। इसके लिये पृथक् से प्रकार निर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। यदि शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार दोनों का सम प्राधान्य हो, तब उसे माध्यम काव्य ही मानना चाहिये क्योंकि व्यंग्य का चमत्कार वहाँ होगा नहीं वाच्य चमत्कार रहेगा ही तथा शब्द चमत्कार से कोई बाधा की संभावना नहीं है, वाच्य और शब्द, दोनों के चमत्कार का समप्राधान्य कहा ही गया है।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के पंडितराज ने तीन भेद परम्परागत ही माने हैं। उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि पण्डितराज व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करते हैं। व्यंग्यार्थ के प्राधान्य-अप्राधान्य को आधार बनाकर काव्य के चार प्रकार कहना भी व्यञ्जना के महत्त्व का प्रतिपादन ही है। इतना ही नहीं, कोई वाच्यार्थ भी व्यंग्य बिना नहीं रहता, यह दूसरी बात है कि वह प्रधान रहे, वा गौण पर व्यंग्यार्थ रहता अवश्य है। अतः शब्द का यह व्यापार असंदिग्ध है।

नानार्थक शब्दों के प्रसंग में व्यञ्जना द्वारा अप्राकरणिक अर्थ प्रतीति का निषेध संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का विवेचन, पण्डितराज ने द्वितीय आनन में किया है। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के दो भेद है—शब्दशक्ति मूलक और अर्थशक्ति मूलक। शब्द शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के विषय में पण्डितराज का अपने पूर्व आचार्यों से मतभेद है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार शब्दशक्ति मूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का लक्षण है—'जहाँ अनेकार्थक शब्द प्रकरणादि के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है, वहाँ अप्राकरणिक अर्थ शब्दनिष्ठ व्यंजना शक्ति से व्यंग्य

---

१. 'तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूप-काव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन, महाकविभिः प्राचीनपरंपरामनुरुन्धानैस्तत्र तत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुरोध्यत्वात्' प्र. आ. पृ. ७३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

होता है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम पण्डितराज ने नानार्थक शब्दों से होने वाले बोध की रीतियों का विवेचन किया है।

१. अनेकार्थक शब्दों में सभी अर्थों की शक्ति ज्ञात होती है—जब श्रोता 'हरि' शब्द सुनता है तो 'हरि' शब्द के सभी अर्थ उसे एक साथ स्मरण हो आते हैं। वक्ता के तात्पर्य को जानने के लिये श्रोता प्रकरण का पर्यालोचन करता है। इस पर्यालोचन से वक्तृविवक्षित एकमात्र अर्थ की पुनः उपस्थिति होती है। प्रथम बार, पर्यालोचन से पूर्व तो यह अर्थ भी अन्य अर्थों के साथ उपस्थित हुआ था, परन्तु पर्यालोचन के उपरांत एकमात्र यही अर्थ पुनः उपस्थित होता है। इस स्थिति में शब्द के साथ इस एक मात्र अर्थ का ही अन्वय बोध होता है। अनेकार्थक शब्दों में शाब्दबोध की यह एक रीति है। प्राचीन आचार्यों द्वारा भी यह रीति कही गई है 'नानार्थक शब्द के प्रयोगस्थल में, वक्ता के तात्पर्य के विषय में सन्देह होने पर 'संयोग, विप्रयोग··· आदि के द्वारा एक अर्थमात्र विषयक द्वितीय स्मरण होता है। 'संयोगादि' अप्राकरणिक अर्थ बोध को रोक कर मात्र प्राकरणिक अर्थ मात्र की उपस्थिति कराते हैं। उदाहरण के लिये 'सुरभिमांसं भक्षयति' में प्राकरणिक अर्थ है 'सुगन्धित मांस खाता है', परन्तु वक्ता का अभीष्ट यह कहना भी है कि 'गोमांस खाता है', परन्तु शाब्द बोध की जो रीति कही गई है, उससे केवल 'सुगन्धित मांस खाता है' अर्थ ही पुनः उपस्थित होगा अतः 'गोमांस खाता है' रूप अर्थ के लिये तो व्यंजना ही माननी होगी। आचार्य मम्मट ने इसी दृष्टि को अभिधामूलक व्यंजना का लक्षण किया है—

> अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
> संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरंजनम्॥

अर्थात्, 'संयोग आदि से अनेकार्थक शब्दों की अभिधा (वाचकता) शक्ति नियन्त्रित हो जाने पर, अन्यत्र वाच्य होने पर भी नियन्त्रण स्थल में अवाच्य बने हुए अर्थों की प्रतीति कराने वाला शब्द व्यापार व्यंजना है।' 'सुरभिमांस खाता है' उदाहरण में प्रकरण पर्यालोचन 'गो मांस' रूप अर्थ की उपस्थिति रोक देता है—यह अर्थ बाद में व्यंजना से उपस्थित होता है।

नानार्थ शब्दों से अर्थबोध की द्वितीय रीति वक्ता के तात्पर्य निश्चय को शाब्दबोध के प्रति स्वतंत्र कारण मानने की है। जब शाब्द बोध के प्रति तात्पर्यनिश्चय की हेतुता मान लेते हैं, तो प्रथम रीति में प्राकरणिक अर्थ की जो द्वितीय बार उपस्थिति कही गयी है, उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती तथा प्रकरणादि प्रतिबन्धकों की भी अपेक्षा नहीं रहेगी। तात्पर्य निश्चय की प्रक्रिया के अनुसार अनेकार्थक शब्द श्रवणानन्तर, प्राकरणिक-अप्राकरणिक सभी अर्थों की उपस्थिति होगी। परन्तु अर्थबोध का कारण तात्पर्य निर्णय जिस अर्थ के अनुकूल होगा, उसी प्राकरणिक अर्थ के साथ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

शब्द का अन्वय होगा। इस द्वितीय मत में भी व्यञ्जना मान्य है। 'सुरभि मांस खाता है', इस वाक्य में भोजनरूप रूप प्रकरण के ज्ञान से, यहाँ वक्ता ने सुगन्धित मांस का बोध कराने की इच्छा से 'सुरभिमांस' पद का प्रयोग किया है, इस प्रकार वक्ता के तात्पर्य का निर्णय हो जाने पर, तात्पर्यविषयभूत अर्थ ही अभिधा वृत्ति द्वारा उपस्थित होता है, अप्राकरणिक 'गो मांस' अर्थ नहीं, परन्तु अनुभव से 'गो-मांस' रूप अर्थ की उपस्थिति भी सिद्ध है अतः इस अर्थबोध की सिद्धि के लिये व्यञ्जना वृत्ति माननी ही होगी। क्योंकि अनेकार्थ शब्दस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा द्वारा नहीं हो सकता। प्राकरणिक अर्थ बोध के प्रति तात्पर्य निर्णय को कारण माना गया है, परन्तु अप्राकरणिक अर्थ के प्रति तात्पर्य निर्णय कारण नहीं है तब अप्राकरणिक अर्थ व्यञ्जना द्वारा कैसे उपस्थित होगा? इसका समाधान यह है कि अतात्पर्यविषयीभूत अप्राकरणिक अर्थ बोध के लिये ही तो व्यञ्जना की कल्पना की गई है अतः वैयञ्जनिक अर्थ बोध के लिये तात्पर्य निर्णय की कारणता अपेक्षित नहीं है। यह मत मम्मटाचार्य के 'संयोगो विप्रयोगश्च··· आदि कारिका के विरुद्ध नहीं है। इस मत को उस कारिका के अनुकूल सिद्ध करने के लिये, उस कारिका में पठित 'विशेषस्मृतिहेतवः' का अर्थ 'विशेष विषयक तात्पर्य निर्णय' करना होगा। इस प्रकार अर्थ करने पर संयोगादि द्वारा तात्पर्य निर्णय की पुष्टि इस कारिका से भी होगी और तात्पर्य निश्चय अर्थबोध के प्रति हेतु कहा जा सकेगा। आचार्य मम्मट कथित 'अवाच्यार्थधी' का अर्थ होगा 'अतात्पर्यविषयी-भूत अर्थ' और इसकी प्रतीति ही व्यञ्जना से कही गई है जो सर्वथा उपयुक्त है।

इस प्रकार अनेकार्थक शब्द स्थल में अप्राकरणिक अर्थ व्यंग्य होता है—यह शब्द शक्तिमूलक कहा जाता है। शब्दशक्तिमूलक इसलिये कि इसमें व्यांजना शब्द निष्ठ है। शब्द शक्तिमूल में शब्द का पर्याय रखने पर व्यंग्य चमत्कार नहीं रहता, अतः शब्द की ही महिमा पर आधृत होने के कारण इसे शब्द शक्तिमूलक कहा गया है।

पण्डितराज ने, इस प्रकार, पूर्व आचार्यों की शब्दशक्तिमूलक व्यंजना की धारणा को प्रस्तुत किया। इन धारणाओं से पण्डितराज जगन्नाथ सहमत नहीं हैं। पहले कहे गये अनेकार्थक शब्द के अर्थ बोध विषयक दो मतों में से प्रथम को—जिसमें प्रथम बार अनेकार्थक शब्द के सभी अर्थों की उपस्थिति और द्वितीय बार केवल प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति कही गयी है—पण्डितराज द्वितीयमत से—जिसमें तात्पर्यनिर्णय को शाब्दबोध का हेतु माना गया है—खण्डित करते हैं—इस विषय में पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रकरणादि की प्रतिबन्धकता प्रतिपादित कर द्वितीय अर्थ की उपस्थिति कही गयी है, वह उद्देश्य (प्राकरणिक अर्थ की

CC-0 Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उपस्थिति) प्रकरणादि ज्ञान के आश्रित रहने वाले तात्पर्यनिर्णय को अर्थ बोध के प्रति कारण मानने से पूर्ण हो जाता है। अतः एकार्थविषक द्वितीय उपस्थिति का कोई प्रमाण नहीं रह जाता।

(२) यदि द्वितीय उपस्थिति को माने भी तो उसके एकार्थ विषयक होने का कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि सकल अर्थों का ज्ञान कराने वाली पदज्ञान आदि सामग्री तो उपस्थित है ही। अतः अप्राकरणिक अर्थ का बोध कैसे निवारित होगा? यह तात्पर्य निर्णय को अर्थबोध के प्रति कारण मानने पर ही संभव है अतः एकार्थविषयक द्वितीय उपस्थिति का कथन निस्सार है।[1] एकार्थविषयक द्वितीय उपस्थिति में स्मृतिप्रतिबन्ध का कथन भी अनुभव के विरुद्ध है। जिस व्यक्ति को किसी शब्द के अनेकार्थों का पूर्ण ज्ञान है और जिसका संस्कार भी दृढ़ है उसे प्रकरण ज्ञान रहने पर भी उस शब्द के सभी अर्थों का स्मरण होता है। उदाहरण के लिए 'पय रमणीय है' वाक्य को सुनने पर 'पय' के सभी अर्थों को जानने वाले प्रकरणज्ञ को भी सभी अर्थ स्मरण आते हैं, तभी तो प्रकरण न जानने वाले नवागन्तुक से वह प्रकरणज्ञ कहता है कि वक्ता का तात्पर्य 'दूध' से है, 'जल' से नहीं। यदि प्रकरणज्ञान से नानार्थक शब्द का अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति अवरुद्ध हो जाती तो प्रकरणज्ञ उपर्युक्त बात कैसे कहता? 'दूध' है 'जल' नहीं यह निषेध तब तक वक्ता को दोनों ही अर्थ प्राकरणिक 'दूध' और अप्राकरणिक 'जल' स्मरण न हों। अतः प्रकरणादि अप्राकरणिक अर्थ के प्रतिबन्धक नहीं हो सकते।[2]

अनेकार्थक शब्द से प्राकरणिक अर्थ के बोध में तात्पर्यज्ञान को हेतु, द्वितीय मत में कहा गया है। प्राकरणिक अर्थ का ज्ञान हो जाने पर अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान होता है। इस मत के खंडन में पंडितराज जगन्नाथ ने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये हैं—

(१) क्या नानार्थक शब्द स्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध कराने में सर्वत्र व्यञ्जना का प्रादुर्भाव माना जायेगा? यदि ऐसा है तो पहले तात्पर्यनिर्णय द्वारा अप्राकरणिक अर्थबोध निषेध मानकर पुनः व्यञ्जना द्वारा सर्वत्र अप्रकारणिक

---

१. अन्ये त्वत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते। यत्तावदुक्तमेकार्थमात्रविषया पदार्थोपस्थितिस्तदन्वयबोधेऽपेक्ष्यत इति तदसारम्। नानार्थादर्थद्वयोपस्थितावपि प्रकरणादिज्ञानाधीनतात्पर्यमहिम्नैव विवक्षितार्थशाब्दबोधोपपत्तेः, एकार्थमात्रोपस्थित्यपेक्षायां मानाभावात्। अपरार्थोपस्थापकसामग्र्याः पदज्ञानस्य सत्त्वेन तदुपस्थितेरप्यौचित्याच्च।
'रस-गंगाधर', द्वि. आ. पृ. १५ सं०......श्री मदनमोहन झा।

२. अहृदयंगम एवायमप्राकरणिकार्थोपस्थापनप्रतिबन्धकभावः प्रकरणादिज्ञानस्य।
पृ. १६ ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थ की उपस्थिति मानने में कौन सा तर्क है ? इससे अधिक उपयुक्त तो यह है कि तात्पर्य निर्णय को हेतु न माना जाय और अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति भी अभिधाजन्य ही स्वीकार कर ली जाय। क्योंकि तात्पर्यार्थ से भिन्न अप्राकरणिकार्थं का भी सर्वत्र बोध यदि अभिमत है तो फिर चाहे वह बोध अभिधा से हो अथवा व्यंजना से, क्या अन्तर पड़ता है। जैसे श्लेष काव्य स्थल में अभिधा द्वारा ही दो अर्थ वाच्य होते हैं वैसे हो अनेकार्थक शब्दस्थल में प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों की उपस्थिति अभिधा द्वारा मान लेने में क्या बाधा हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि श्लेषस्थल में दोनों अर्थों में समान रूप से तात्पर्य निर्णय होता है और अनेकार्थक शब्द स्थल में प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों में समान रूप से तात्पर्यनिर्णय नहीं होता अतः श्लेष का दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त नहीं है तो इसका समाधान यह है—श्लेष का दृष्टान्त केवल यह दिखलाने के लिये दिया गया है कि एक ही अभिधा से दो अर्थों का बोध असंभव नहीं है—यह दो अर्थों का बोध अनुभव सिद्ध है। पुनः प्राकरणिक अर्थ के प्रति तात्पर्यनिर्णय की हेतुता भी सिद्ध नहीं है, अतः तात्पर्य निर्णय को इस प्राकरणिक अर्थ बोध के प्रति कारण नहीं माना जा सकता, इस स्थिति में प्राकरणिक---अप्राकरणिक से कोई अन्तर नहीं पड़ता, दोनों ही अर्थ वाच्य हो सकते हैं।[1] परन्तु, तात्पर्यनिर्णय का उपयोग अवश्य है। कोई भी वाक्य किसी कार्य में प्रवृत्त अथवा कार्य से निवृत्त कराने के लिये कहा जाता है। अनेकार्थक शब्द सुननेवाला श्रोता, अर्थ में संदेह होने के कारण कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता, अर्थ की प्रामाणिकता के लिए तात्पर्यनिर्णय उपयोगी है।[2] अतः तात्पर्यनिर्णय प्राकरणिक अर्थ बोध का हेतु नहीं है। तात्पर्य निर्णय के हेतुत्व का निषेध हो जाने पर तात्पर्यार्थ से भिन्न अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना को स्वीकारने का प्रसंग ही नहीं आता। अभिधा से प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थो का बोध हो जायेगा। इस प्रकार-सर्वत्र अप्राकरणिक अर्थबोध में व्यञ्जना का निषेध किया गया।

(२) क्या स्थल विशेष में ही अनेकार्थक शब्द से अप्राकरणिक अर्थ बोध में व्यंजना का प्रादुर्भाव अभिमत है ? पंडितराज इसको भी उचित नहीं मानते, क्योंकि स्थलविशेष में ही व्यंजना के प्रादुर्भाव मानने वाले यदि यह कहें कि 'अमुक पद व्यंग्य

---

१. तात्पर्यज्ञानताया एवासिद्धत्वेन युगपदर्थद्वयबोधानुपपत्तिवाचोयुक्तेररमणीयत्वात्। तादृशज्ञानहेतुतासिद्धौ तु शक्येतापीत्थं वक्तुम्.........पृ. २१ ,, ,,

२. तर्हि तात्पर्यज्ञानस्य कुत्रोपयोग इति चेत् ? अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रमाणमयमर्थः प्रमाणवेद्य इत्यादिनिर्णये प्रवृत्त्याद्युपयोगिनीति गृहाण। 'रसगंगाधर', द्वि० आ०, पृ० २२ स० श्री मदनमोहन झा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का बोध कराने के लिए वक्ता द्वारा प्रयुक्त हुआ है' तो यह तो वक्ता के तात्पर्य का निर्णय हुआ और वक्ता का तात्पर्य-निर्णय व्यंग्यार्थ का हेतु माना ही नहीं गया है। यदि तात्पर्यनिर्णय को व्यंग्यार्थ के प्रति हेतु माने व्यतिरेक-व्यभिचार दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि वक्ता के अभिप्राय से विपरीत भी व्यंग्यार्थ होते हैं।[1] यदि व्यञ्जना के स्थल विशेष में प्रादुर्भाव को सिद्ध करने के लिये श्रोता की बुद्धि का प्रमाण दें, अर्थात् जहाँ सूक्ष्म व्यंग्यार्थ को ग्रहण सकने में समर्थ बुद्धि वाला श्रोता होगा, वहाँ व्यंजना का प्रादुर्भाव होगा, अन्यत्र नहीं तो यह भी असंगत है। क्योंकि ऐसी स्थिति में श्रोता की बुद्धि शक्ति को प्रकरणादि से नियंत्रित अभिधा का ही उद्भावक क्यों न मान लें। अतः अनेकार्थ शब्द स्थल मे व्यञ्जना की कल्पना व्यर्थ है।

यदि स्थल विशेष में व्यञ्जना का उद्भव एक बार मान ही लें तब भी अनेकार्थक शब्द स्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यञ्जना द्वारा मानना असंगत है। क्योंकि अनेकार्थ शब्द स्थल में भी अप्राकरणिक का बोध उसे ही होता है जिसे अप्राकरणिक अर्थ की भी अभिधा ज्ञात होती है। ऐसे व्यक्ति को—जिसे अप्राकरणिक अर्थ की अभिधा ही ज्ञात नहीं है अथवा जिसे ज्ञात तो थी पर विस्मृत हो गई है—अप्राकरणिक (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति ही नहीं हो सकती। श्रोता ही बुद्धि के कारण कहीं-कहीं व्यञ्जना का उल्लास यदि माना जाय तो ऐसे—अज्ञातशक्ति अथवा विस्मृतशक्ति व्यक्ति को भी अर्थ प्रतीति होनी चाहिये क्योंकि उसकी बुद्धि शक्ति व्यञ्जना का उद्भव कर देगी। परन्तु, पंडितराज के मत से यह संभव नहीं है. अज्ञातशक्ति अथवा विस्मृत शक्ति व्यक्ति को अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। यह नानार्थस्थल में व्यञ्जना के निषेध का अन्य तर्क है।

जिस शब्द से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है—उस शब्द की उस अर्थ में शक्ति ज्ञान ही अप्राकरणिक अर्थ की व्यञ्जना का कारण है—यदि यह कहा जाय तो असंगत होगा। ऐसा मानने पर 'निःशेषच्युत......' आदि श्लोक में पठित 'अधम' पद 'रमण' रूप अर्थ की व्यञ्जना मानी ही नहीं जा सकती, क्योंकि 'रमण' अर्थ की शक्ति 'अधम' पद में गृहीत नहीं है। यदि 'अधम' पद में 'रमण' अर्थ की शक्ति मान ही ली जाय, तब तो 'रमण' रूप अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही मान ली जानी चाहिये, इसके लिये व्यंजना की कल्पना अनपेक्षित है।

अनेकार्थक शब्द स्थल में व्यंजना मानने वाले एक और तर्क देते हैं—अप्राकरणिक अर्थ का बोध यदि अभिधा से ही माना जाय तो यह भी वहीं संभव है जहाँ अप्राक-

---

१. यत्राश्लीलं [illegible] सकलानुभवसिद्धे कवितात्पर्यस्य विरहात् तज्ज्ञानस्य तादृशबुद्धिहेतुताया व्यभिचारदूषितत्वाच्च। ......रसगं०...पृ० २३।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रणिक अर्थ बाधित न हो, परन्तु जहाँ अप्राकरणिक अर्थ बाधित है वहाँ अभिधा द्वारा उसका बोध कैसे होगा ? जैसे—

'जैमिनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः'

'यह ब्राह्मण जैमिनि प्रतिपादित मीमांसा को जिह्वा पर अत्यधिक धारण करता है' इस अर्थ के साथ यह अर्थ भी है 'ब्राह्मणजैमिनि के मल को जिह्वा पर धारण करता है ।' परन्तु, यह अर्थ वाधित है, अतः इसका बोध अभिधा से नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ 'तदभाववत्तारूपबाधनिश्चय' प्रतिवन्धक है । अर्थात् 'ब्राह्मण की जिह्वा पर मल' यह भाव बन नहीं सकता, यह निश्चय इस अर्थ की प्रतीति में बाधक है । ऐसे स्थलों पर व्यञ्जना माननी ही होगी, क्योंकि वाधित अर्थ की प्रतीति भी व्यंजना द्वारा तो हो सकती है । व्यंजना की कल्पना ही इसीलिये । व्यंजना द्वारा उत्पन्न बोध के अतिरिक्त बोध में ही प्रतिबन्धकों की स्थिति रहती है ।

पंडितराज जगन्नाथ अनेकार्थ शब्द स्थल के बाधित आप्रकरणिक अर्थ की प्रतीति के लिये भी व्यंजना नहीं मानते । 'पतंजलि के छल से सरस्वती इस धरती पर अवतीर्ण हुई है' तथा 'इस नगर के प्रासाद सूर्य का स्पर्श करते हैं' आदि में अर्थ वाधित ही हैं । इन स्थलों पर अभिधा द्वारा बोध सिद्ध करने के लिए जिस उपाय का आश्रय लिया जाता है उसी उपाय से अनेकार्थकशब्द स्थल में बाधित अप्राकरणिक की प्रतीति अभिधा द्वारा मानी जा सकती है ।

यदि वाधित अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में व्यंजना माने तो प्रायः सभी अलंकारों के वाच्यार्थों की प्रतीति के लिये व्यञ्जना माननी होगी क्योंकि अलंकार प्रधान काव्यों के अर्थ प्रायः ही वाधित होते हैं । पर अलंकार प्रधान, बाधित अर्थ वाले काव्यों में सभी अभिधा ही मानते हैं, फिर अनेकार्थक शब्द स्थल के बाधित अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति हेतु ही व्यंजना क्यों मानी जाय । पंडितराज के मतानुसार 'वाध निश्चय' को शब्द जन्य बोध से भिन्न वोध में ही बाधक मानना चाहिये । अतः बाधित अर्थ का भी बोध अभिधा द्वारा ही हो सकता है ।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के शब्द शक्त्युत्थध्वनि विषयक धारणा से मतभेद उपस्थित करते हुए पंडितराज ने स्पष्ट किया कि 'नानार्थक शब्द स्थल का अप्राकरणिक अर्थ ही शब्द शक्तिमूल ध्वनि का विषय है' है यह मत असंगत है ।

मम्मटादि आचार्यों के मत से पण्डितराज जगन्नाथ अंशतः सहमत होते हैं । 'दुर्गलंघित······' आदि श्लोक में "उमावल्लभ" पद के दो अर्थ हैं, एक उमा नाम की रानी का वल्लभ [illegible] राजा, और दूसरा उमा पार्वती

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का वल्लभ शिव। इनमें प्रथम अर्थ प्राकरणिक है, दूसरा अप्राकरणिक। प्रकरण से राजा रूप अर्थ में अभिधा नियन्त्रित हो जाती है और राजा रूप अर्थ ही वाच्य अर्थ होता है। शिव रूप अर्थ अप्राकरणिक अर्थ होगा—यह अप्रासंगिक न हो जाय, इसलिये उमावल्लभ शिव जैसा उमावल्लभ राजा, इस प्रकार प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ का उपमा अलंकार भी व्यंग्य होगा। यह प्राचीन आचार्यों का मत है, पण्डितराज इसमें शिवरूप अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य नहीं मानते, वरन् वाच्य ही कहते हैं और केवल उपमा अलंकार को ही व्यंग्य मानते हैं।[1]

शब्दशक्त्युत्थ विषयक पण्डितराज का अपना मत—

अभिधा का एक भेद योगरूढि होता है—यह योगरूढि शास्त्रकल्पित, अवयवार्थमिश्रित समुदायार्थबोधकतारूप मानी जाती है। 'पंकज' शब्द इस योगरूढ़ि का उदाहरण है—यहाँ रूढि-शक्ति ज्ञान से ही योगशक्ति का बोध होता है। 'पंकज' पद से पङ्क से जन्य शैवालादि का बोध न होकर केवल रूढ़ अर्थ कमल का बोध होता है। परन्तु कहीं-कहीं योगरूढ पद से रूढयर्थ का बोध हो जाने के बाद योगार्थ की भी प्रतीति होती है। यह प्रतीति अभिधा से तो हो नहीं सकती, क्योंकि योगशक्ति का रूढ शक्ति से बाध हो गया है। अतः वह प्रतीति व्यञ्जना से ही माननी होगी[2] और यहीं शब्दशक्तिमूलक ध्वनि भी माननी चाहिये। यथा—

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥[3]

'अबलाओं की श्री का हरण कर (अबलानां श्रियं हृत्वा) बिजली (चपला) जब बादलों के साथ (वारिवाहैः सह) रात दिन रहती है (अनिशम् तिष्ठन्ति) वह समय आ गया है (स कालः समुपस्थितः)'।

इस पद का अन्य अर्थ है—"जब चंचल कुलटाएँ (चपला) निर्बलों का धन हरण कर (अबलानां श्रिय हृत्वा) जल ढोने वालों के साथ रहने लगी है (वारिवाहैः सह तिष्ठन्ति) वह समय (कलिकाल) आ गया है।"

यह अर्थ, 'चपला', 'वारिवाह' आदि शब्दों से सम्भव हुआ है, परन्तु द्वितीय अर्थ रूढ अर्थ नहीं हैं, क्योंकि योगरूढि से तो 'मेघ' और 'विद्युत' अर्थ ही हुए हैं।

१. 'प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयो' रुपमायां तु सा कदाचित्स्यादपीत्यत्रास्माकं प्रतिभाति।' रसगंगाधर, द्वि० आ० पृ. ३० श्री मदनमोहन झा।
२. योगार्थालिङ्गितस्यार्थान्तरस्य व्यक्ति विना प्रतीतिदुंरुपपादा······पृ. ३१।
३. रसगंगाधर—द्वि० आ० पृ. ३२ स० मदन मोहन झा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ऐसे स्थलों में द्वितीय अर्थ बोध के लिये व्यञ्जना रूप अन्य उपाय का ही आश्रय लेना होगा।

यौगिक रूढि स्थल[1] में भी इसी प्रकार व्यंजना रहती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने योगरूढिस्थल का ही एक और भी उदाहरण दिया है—

'चांचल्ययोगिनयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽतिचंचलानामपि च मृगाणां कथं हरति ॥'[2]

'साधारण चंचलतारूप गुण से युक्त तेरा नेत्र उस गुण से ही कमल का तिरस्कार करे—यह आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु अत्यधिक चंचल मृग नेत्र का तिरस्कार करे यह आश्चर्य की बात है।' यह अर्थ योगरूढिशक्ति जन्य है। इसके अतिरिक्त रूढिरहित, केवल योगशक्ति से प्रतीत होने वाला अर्थ है—'असावधानों का धन अपहरण किया जा सकता है, परन्तु गवेषक अर्थात् हर बात की खोज खबर रखने वाले सावधानों का नहीं।' काव्य में 'ड' और 'ल' को एक माना गया है, इस दृष्टि से 'जलज' का 'जडज' होकर अर्थ होगा मूर्ख पुत्र अर्थात् असावधान अर्थ होगा और नयन का अर्थ 'नेता' ले जाने वाला अर्थात् चोर, 'मृगयन्ति' का अर्थ जो खोज करे, सदा सावधान रहने वाला। इस प्रकार द्वितीय अर्थ प्रस्तुत होता है। यह अर्थ व्यंजना वृत्ति द्वारा ही संभव है। योगरूढ पद—रूढि से अलग केवल योगशक्ति संपन्न अर्थ को बताने में असमर्थ होता है।

अतः 'अवलानाम्……' आदि तथा 'चाञ्चल्य……' आदि श्लोकों में योग-रूढ शब्दों का प्रयोग है, इनसे जो अप्राकरणिक अर्थ प्रतीत होते हैं, वे अभिधा द्वारा नहीं अपितु व्यञ्जना द्वारा ही ज्ञात होते हैं।

उक्त स्थलों में लक्षणा द्वारा अन्य अर्थों की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि लक्षणा तो मुख्यार्थ के बाध होने पर ही प्रवृत्त होती है और 'अबलानाम्……'आदि' तथा 'चाञ्चल्य……' आदि उपरिकथित श्लोकों में मुख्यार्थ का बाध नहीं होता। 'नायिकाओं की शोभा का हरण करके बिजलियाँ मेघों के साथ रहती हैं' यह वाच्यार्थ उपपन्न ही है। तात्पर्य की अनुपपत्ति भी (जैसे काक से दही बचाना) लक्षणा को प्रेरित करती है—अतः 'दुर्बल पुरुषों का धन अपहरण कर चंचलाएँ जल ढोने वालों के साथ रहती हैं' इस अप्राकरणिक अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है और वाच्यार्थ में यह अनुपपन्न रहता है अतः तात्पर्य की अनुपपत्ति होने से यहाँ तो लक्षणा हो सकती है?

१. एवं यौगिकरूढिस्थलेऽपि बोध्यम्……३३ मदन मोहन झा।
२. रसगंगाधर द्वि० आ० पृ. ३३ मदनमोहन झा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसे भी पंडितराज अस्वीकार करते हैं, क्योंकि अप्राकरणिक अर्थ में तात्पर्य है यह बात श्रोता को ज्ञात ही कैसे होगी[1] इसी ज्ञान के लिये तो व्यञ्जना का आधार प्रस्तुत किया गया है, अतः लक्षणा द्वारा इन स्थलों में अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।

एक तर्क व्यञ्जनाविरोधियों का यह भी हो सकता है कि उक्त स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती, तो इस बात का प्रमाण सहृदय ही हैं। इस प्रतीति को अस्वीकार करने वाले वाच्यार्थ मात्र समझने की शक्ति रखने वाले ही हो सकते हैं और यह तो प्राचीन आचार्य भी कह चुके हैं कि 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव' से व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। परन्तु, जो सहृदय शब्द और अर्थ की गहन व्युत्पत्तियों में निष्णात होंगे वे कभी भी व्यञ्जना का अपलाप नहीं कर सकते।[1] पूर्व मतों का परीक्षण करने के उपरांत पंडितराज जगन्नाथ ने शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना का लक्षण किया है—

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥[2]

जब योगरूढ पद की योगशक्ति रूढ़ि द्वारा नियन्त्रित हो जाती है (रूढ्या नियंत्रिते) तब योगशक्ति स्पर्शित अर्थ की प्रतीति जिस वृत्ति से होती है, वही व्यञ्जना है।

पंडितराज जगन्नाथ ने मम्मटाचार्य के मत को भी अपनी दृष्टि से औचित्यपूर्ण सिद्ध करने के लिये कहा है—"तथापि एक बात उनमें (मम्मटाचार्य आदि के मत में) सर्वथा सत्य है जो सबके मानने योग्य है। नानार्थक शब्द स्थल में भी प्राकरणिक और अप्राकरणिक का उपमानोपमेय रूप उपमालंकार तो व्यंग्य ही होता है, वह वाच्य नहीं हो सकता। उपमा व्यंग्य है अतः प्रकारान्तर से अप्राकरणिक भी व्यंग्य ही हो जाता है, ऐसा विचार कर ही प्राचीन आचार्यों ने अनेकार्थ शब्द स्थल में वैसा कथन किया है। उसे अधिक दोषपूर्ण नहीं समझना चाहिये।[3]

---

१. तादृशार्थप्रतिपत्तिरेव नास्तीति तु गाढतरशब्दार्थव्युत्पत्तिमसृणीकृतान्तःकरणैर्नं शक्यते वक्तुम्। र गं द्वि० आ० पृ० ३७।

२. 'रसगंगाधर' द्वि० आ० पृ० ३८ सं० श्री मदनमोहन झा।

३. एवं स्थिते = नानार्थस्थलेऽप्युपमायाः प्राकरणिकाप्राकरणिकार्थगतायाः प्रतिपत्तयेऽवश्यं वाच्यया व्यंजनयैवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य प्रतिपत्तावलं क्लिष्टकल्पनयेत्याशयेन प्राचीनैरुक्तं नानार्थव्यंजकत्वमपि न दुष्यति।— रसगंगाधर, द्वि० आ० पृ० ३८ सं० मदनमोहन झा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

अतः सार रूप में यह कहा जा सकता है कि पंडितराज जगन्नाथ व्यंजना, ध्वनि आदि से न केवल सहमत है, वरन् उसके पक्षधर हैं। जहाँ उनका प्राचीन आचार्यों की मान्यता से मतभेद है, वहाँ भी उन्होंने शालीनता पूर्वक पूर्वमतों को उद्धृत कर स्वमत की स्थापना की है—जैसे शाब्दी व्यञ्जना के अभिधामूलक रूप के विषय में। पंडितराज ने गद्य में लिखा है, अतः उनके पास तर्क का अधिक अवसर है—इसीलिये उनके ग्रंथ में तर्क पूर्वक स्वमत स्थापन मिलता है।

क्योंकि पंडितराज जगन्नाथ व्यंजनावृत्ति को स्वीकार करते हैं, अतः उन्होंने पिष्टपेषण नहीं किया है, जहाँ वे असहमत हैं, उन्होंने विस्तार से उस अंश का विवेचन किया है। संस्कृत काव्य शास्त्र परंपरा में पंडितराज, व्यंजनावादी ही कहलाएंगे।

—:०:—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अध्याय ४

व्यंजना का स्वरूप और भेदनिरूपण

व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाली वृत्ति, व्यंजना है। व्यंजक और व्यंग्य का संबंध भी व्यंजना ही कराती है। वृत्ति का अर्थ है 'व्यवहार' वे जब हम व्यंजना को शब्द की वृत्ति के रूप में देखते हैं, तब व्यंजना वृत्ति का तात्पर्य होता है—शब्द का व्यवहार। यह व्यवहार अभिधा, गौणीवृत्ति और तात्पर्यवृत्ति से भिन्न है। शब्द के धर्म के रूप में व्यञ्जकत्व औपाधिक है, परन्तु व्यंजकत्व अपने स्वरूप में निश्चित है। 'औपाधिकत्व व्यंजकत्व' पद से 'व्यंजकत्व' को ही अनियत न समझ लेना चाहिये यह 'औपाधिकत्व' मात्र शब्द के प्रसंग में है।

जिस व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना वृत्ति द्वारा होती वह व्यंग्यार्थ भी, नियत अनियत और परंपरित संबंध वाला होता है। व्यंग्यार्थ, काव्य में होना ही चाहिये, भले ही वह प्रधान हो, या गौण हो। उसमें 'ध्वनि' का व्यवहार किया जा सके या न किया जा सके यह भिन्न बात है। व्यंग्यार्थ काव्य में एक भिन्न ही वस्तु है, जैसे रमणियों में लावण्य मुख, नाक आदि प्रसिद्ध अवयवों से व्यतिरिक्त ही कुछ होता है, वैसे ही काव्य में प्रतीयमान अर्थ, वाच्यार्थ, अलंकारादि से पृथक् ही भासित होता है। महाकवियों की वाणी में इसे देखा ही जाता है। व्यंग्यार्थ के इस स्वरूप के लिए ही आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यद् तद् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥[1]

प्रतीयमान अर्थ की स्थिति, कवि की परिचायिका है। नये काव्य में जिस प्रतिभा की 'सपाटबयानी' का दावा है, वह अपनी प्रतिभाहीनता को छिपाने का बहाना है, तथा जो आलोचक इसे ही पकड़कर चल पड़े हैं, वे कविता के मर्म से अनभिज्ञ हैं और गहन अध्ययन से बचने का उन्हें भी रास्ता मिल गया है। यही कारण है आज कवि भी बहुत है और हर ऐरा-गैरा आलोचक-समीक्षक-संपादक है।

शब्दार्थ मात्र जानने मे कविता का वास्तविक कथन समझ में नहीं आता। प्रतीयमान अर्थ को केवल काव्यतत्त्व को जानने वाले ही समझ सकते हैं। इसके साथ ही सहृदयत्व भी आवश्यक है। अन्यथा काव्यतत्त्व को जानकर भी दृष्टि नहीं खुल

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. ध्व० आ० वि० पृ० १३

सकती। कविता रचना सरल नहीं है, ऐसा शब्द और अर्थ आयोजन, यत्नपूर्वक करना होता है। अन्यथा सपाट बयानी ही होती है, कविता नहीं।

व्यंग्यार्थ की प्रतीति 'वाच्यार्थपूर्विका' होती है। व्यंजना वृत्ति का प्रसरण भी अभिधा आदि के अनंतर ही होता है। लक्षणा में जहाँ मुख्यार्थ बाध की आवश्यकता है, वहाँ व्यंजना में इस प्रकार की अपेक्षा नहीं है। वाच्यार्थ के अनंतर व्यंजना प्रवृत्ति के लिये ही आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥[1]

परन्तु इससे व्यंग्यार्थ में 'पद-पदार्थ' न्याय की प्रसक्ति न समझ लेनी चाहिये यहाँ 'पदार्थ द्वारेण' उपाय मात्र के रूप में कहा गया है।

वस्तुतः, व्यंजना की धारणा, भारतीय काव्य-शास्त्र की महत् उपलब्धि है जो काव्यार्थ के संपूर्ण क्षेत्र को आलोकित करती है।

सर्वप्रथम व्यंजना के दो भेद हैं—(१) शाब्दी व्यंजना (२) आर्थी व्यंजना, क्योंकि व्यंजकत्व शब्द का भी होता और अर्थ का भी, इसलिये व्यंजना के दो मूल भेद हैं।

शाब्दी व्यंजना के आचार्य मम्मट ने पुनः दो भेद किये हैं—

(१) अभिधामूला। (२) लक्षणामूला।

(१) अभिधामूला व्यंजना—अनेकार्थक शब्द की समस्या, वैयाकरणों ने भी स्वीकार की है। किसी प्रसंग विशेष में अनेकार्थक शब्द के अर्थ का विनिश्चय कैसे हो ? इस अर्थविनिश्चिति के लिये कतिपय अभिधा नियामकों का विधान वैयाकरणों ने किया है। अभिधा नियामकों के द्वारा शब्द एक निश्चित अर्थ में स्थित हो जाता है। ये अभिधानियामक निम्नलिखित हैं—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

शब्द के अर्थ में अनिर्णय होने पर वे उपर्युक्त नियामक निर्णय के आधार होते हैं।

(१) संयोग—पुल्लिग हरिशब्द अनेकार्थक है—इसके, यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु, सिंह आदि अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु 'हरि' शब्द के साथ जब शंख और चक्र का भी प्रयोग हो, जैसे 'सशंखचक्रो हरिः' तब शंख और चक्र के

१. ध्व. आ. वि. ३५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संयोग से 'हरि' का अर्थ विष्णु ही होगा, क्योंकि शंख और चक्र का संयोग विष्णु से ही है।

(२) वियोग--'अशंखचक्रो हरिः' में 'हरि' का शंख और चक्र से वियोग कहा गया है। शंख चक्र का वियोग हरि (विष्णु) से ही होगा, क्योंकि जो धारण करता है, वियोग भी उसी से हो सकता है। अतः यहाँ वियोग द्वारा अनेकार्थक हरि शब्द 'विष्णु' अर्थ की प्रतीति कराता है।

(३) साहचर्य-विरोध—साहचर्य और साहचर्यविरोध भी अभिधानियामक है। 'राम' शब्द अनेकार्थक है; परन्तु 'रामलक्ष्मणौ' में 'लक्ष्मण' के साहचर्य में प्रसिद्धि के कारण दशरथ पुत्र राम ही अर्थ होगा। और 'रामार्जुनगतिस्तयोः' में 'राम' और अर्जुन की विरोधिता के कारण; राम का अर्थ परशुराम होगा, क्योंकि हैहयवंशी अर्जुन से परशुराम की विरोधिता प्रसिद्ध ही है। यहाँ 'अर्जुन' का भी अर्थ कार्तवीर्य अर्जुन में नियन्त्रित हुआ है।

(४) अर्थ अथवा कार्य—स्थाणु शब्द अनेकार्थक है। परन्तु, 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' में स्थाणु का अर्थ 'शिव' ही हो सकता है, क्योंकि भव छेदन, संसार से पार उतरने रूप कार्य अथवा अर्थ की सिद्धि 'शिव' से ही हो सकती है, खम्भे अथवा ठूंठ से नहीं अतः कार्य के आधार पर अनेकार्थक शब्द का अर्थ विनिश्चय होता है।

(५) प्रकरण—जिस प्रकरण में शब्द का प्रयोग हुआ है उसके विमर्श से भी अनेकार्थक शब्द का अर्थ निर्णय होता है। यथा 'सर्वं जानाति देवः' इस प्रयोग में अनेकार्थक 'देव' शब्द 'आप' अर्थ में नियन्त्रित हो गया है, और 'सर्वं जानाति देवः' का अर्थ होगा, 'आप सब जानते हैं।'

(६) लिङ्ग--लिङ्ग का अर्थ है चिह्न। चिह्न-विशेष से भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियत हो जाता है। 'कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य में प्रयुक्त 'मकरध्वजः' शब्द के अनेक अर्थ हैं—समुद्र, औषधि-विशेष, कामदेव आदि। परन्तु कोपरूप चिह्न के कारण इसका अर्थ कामदेव ही यहाँ संगत है, क्योंकि समुद्र अथवा औषध का 'कोप' नहीं हो सकता।

(७) शब्द का अन्य शब्द से सान्निध्य—अन्य शब्द-विशेष के सान्निध्य से अनेकार्थक शब्द के प्रसंगप्राप्त अर्थ का निश्चय हो जाता है। उदाहरण के लिए 'देवस्य पुरारातेः' वाक्य में अनेकार्थक 'देव' शब्द 'पुराराति' शब्द के सान्निध्य के कारण 'शंभु' अर्थ में नियंत्रित हो गया है। क्योंकि 'पुर' का शत्रु 'देव' तो शिव ही हो सकते हैं।

(८) सामर्थ्य—'मधुना मत्तः कोकिलः' इति वाक्य में 'मधु' शब्द अनेकार्थक है
CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परन्तु कोकिल को मत्त बनाने की सामर्थ्य केवल बसंत में है, अतः यहाँ इस सामर्थ्य के विमर्श के कारण 'मधु' का अर्थ 'बसंत' ही संगत है ।

(९) औचित्य—'पातु वो दयितामुखम्' में 'मुख' शब्द अनेकार्थक है, इस वाक्य का अर्थ है 'पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे' परन्तु मुख रक्षा कैसे कर सकता है, इस अर्थ से औचित्य का निर्वाह नहीं होता, अतः औचित्य विमर्श से 'मुख' का अर्थ 'आनुकूल्य' होता है । तब अर्थ होगा 'पत्नी का आनुकूल्य तुम्हारी रक्षा करें' ।

(१०) देश–'भात्यत्र परमेश्वरः' का अर्थ है—'यहाँ परमेश्वर सुशोभित हैं' यहाँ का तात्पर्य है देश से, राजधानी रूप देश, तब अनेकार्थक 'परमेश्वर' शब्द 'राजा' अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है ।

(११) काल—'चित्रभानुर्विभाति' 'चित्रभानु चमक रहा है' में 'चित्रभानु' शब्द अनेकार्थक है । परन्तु यह वाक्य यदि रात में कहा गया है, तो चित्रभानु का अर्थ अग्नि ही होगा, क्योंकि रात्रि में 'सूर्य' नहीं चमकता, यदि यह वाक्य दिन में कहा गया है तो चित्रभानु का अर्थ सूर्य होगा । इस प्रकार काल भी अर्थ-निर्णय में सहायक होता है ।

(१२) व्यक्ति अर्थात् लिंग--यहाँ लिंग का तात्पर्य है--नपुंसकलिंग, पुल्लिग आदि---एक शब्द एक लिंग में प्रयुक्त होकर एक अर्थ देता है, वही शब्द अन्य लिङ्ग में प्रयुक्त होकर अन्य अर्थ का वाचक होता है । 'मित्र' शब्द संस्कृत भाषा में पुल्लिग में भी चलता है और नपुंसक लिंग में भी, पुल्लिग मित्र—सूर्य आदि के लिये है । नपुंसक मित्र शब्द सखा, सुहृद् अर्थ में होता है । यदि 'मित्रं भाति' (मित्र सुशोभित है) कहा जायगा तो 'मित्रम्' नपुंसकलिंग में होने से इसका अर्थ सुहृद् ही होगा । और मित्रो भाति' में 'मित्रः' के पुल्लिङ्ग होने से इसका अर्थ 'सूर्य' ही होगा.--इस प्रयोग-विधि (व्यक्ति) से भी अर्थ का निश्चय होता है ।

(१३) स्वर---वेद में शब्द के स्वर के उदात्त और अनुदात्त अथवा स्वरित होने से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है । वहाँ स्वर से ही अनेकार्थक शब्द के प्रासंगिक अर्थ का बोध होता है । 'इत्यादि' से अभिनय, संकेत आदि का ग्रहण करना चाहिये ।

अनेकार्थक शब्द उपर्युक्त अभिधा नियामकों द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है । परन्तु ऐसा देखा जाता है अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है । यह अर्थ अवाच्य ही होता है । इस अन्य, वाच्य-व्यतिरिक्त अर्थ की प्रतीति कराने वाला, शब्द का जो व्यापार है, वह 'अभिधामूला व्यञ्जना' कहा जाता है । आचार्य मम्मट ने लिखा है—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥[1]

[अर्थात् संयोगादि के द्वारा (संयोगाद्यैः) अनेकार्थक शब्द के (अनेकार्थस्य शब्दस्य) वाचकत्व के नियन्त्रित हो जाने पर (वाचकत्वे नियन्त्रिते) अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला (अवाच्यार्थधीकृद्) व्यापार (व्यापृतिः) व्यञ्जना है ।] यह व्यापार शब्द का होता है, इसलिये, इसे 'वृत्ति' भी कहते हैं ।

अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों का निवारण अभिधा-नियामकों द्वारा हो जाता है और शब्द एक ही अर्थ प्रकट करता है । परन्तु इस एक नियत अर्थ के व्यतिरिक्त अर्थ की भी प्रतीति व्यवहार-सिद्ध है । इस अन्य अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा निश्चित ही नहीं हो सकती क्योंकि अभिधा का नियन्त्रण हो चुका है । लक्षणा की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि मुख्यार्थ-बाधादि का अभाव है । इसलिये इस वाच्य-व्यतिरिक्त अन्य अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से ही होती है ।[2] जैसे—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः पर-वारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥[3]

इस श्लोक का प्राकरणिक अर्थ है—सुन्दर स्वरूपवाले (भद्रात्मनः), दूसरे जिस पर नहीं अधिकार कर सकते ऐसे विशाल शरीरवाले (दुरधिरोहतनोर्विशालः), ऊँचे वंश में उत्पन्न (वंशोन्नतेः), बाणों का संग्रह जिसने कर रखा है (कृतशिलीमुखसंग्रहस्य), जिसकी गति अबाधित है (यस्यानुपप्लवगतेः), जो शत्रु का वारण करता है, (पर वारणस्य) ऐसे राजा के हाथ दान-जल से निरन्तर सुन्दर रहते हैं (दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्) ।

इसमें राजा की स्तुति है, अतः अनेकार्थक शब्द 'दुरधिरोहतनुः' 'कृतशिलीमुखसंग्रहस्य' आदि राजा से सम्बन्धित अर्थ में प्रकरणवश नियन्त्रित हो जाते हैं । तब भी इसमें हाथीपरक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है । यह प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जना से हो रही है, क्योंकि अभिधा का नियन्त्रण हो चुका है । हाथीपरक अर्थ यह होगा—'भद्र जातिवाले (भद्रात्मनः), जिसके ऊपर चढ़ने में कठिनाई हो, ऐसे

---

१. काव्यप्रकाश सं० आ० वि० पृ. ७७, द्वितीय उल्लास ।

२. इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तर-प्रतिपादनं, तत्र नाभिधा नियमनात् तस्याः । न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावात् । अपितु अञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः । का० प्र० आ० वि० द्वि० उ० पृ० ८०

३. का० प्र० आ० वि० द्वि० उ० पृ. ८९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(दुरधिरोह) जिसके पीठ की हड्डी (वंश) ऊँची है (विशालवंशोन्नतेः), जिसके मदजल के कारण भ्रमरों का संग्रह हो रहा है, ऐसे (कृतशिलीमुखसंग्रहस्य), जिसकी गति अबाधित है (यस्यानुपप्लवगतेः) ऐसे श्रेष्ठ हाथी की (परवारणस्य) सूंड सतत प्रवाहित मदजल से सुन्दर प्रतीत होती है। इस प्रकार अर्थ के नियन्त्रित हो जाने पर भी अन्य अर्थ (हाथीपरक) की प्रतीति के कारण यह अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना का उदाहरण है।

क्योंकि शब्द वैशिष्ट्य के कारण यह व्यञ्जना होती है इसलिये इसे शब्दी व्यञ्जना और इस व्यञ्जना से युक्त शब्द को व्यञ्जक कहते हैं[1]—

'तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः'

परन्तु प्रथमतः क्योंकि प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है, तदनंतर व्यंग्यार्थं की, इसलिये उस प्राकरणिक अर्थ को भी व्यञ्जक कहते हैं, उस प्राकरणिक अर्थ का सहकारित्व भी सिद्ध ही है।

यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा।[2]

अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ २० ॥

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—

मुख्याथ के उपपन्न न होने पर गौणीवृत्ति अथवा लक्षणा का व्यवहार होता है। परन्तु, मुख्य व्यापार को छोड़कर गौणीवृत्ति का आश्रय किसी विशेष प्रयोजन के कारण लिया जाता है। जैसे गंगा के तट पर बसे ग्राम के पवित्र, शैत्य वातावरण के अतिशय को कहने के लिये कहा जाय—'गंगायां घोषः' अर्थात् वक्ता का प्रयोजन है कि गाँव इतना पवित्र, शांत आदि हैं, जैसे गंगा के प्रवाह में ही स्थित हो, इस शैत्यातिशय, पावनातिशय रूप प्रयोजन के कारण ही 'गंगायां घोषः' यह वाक्य कहा गया। मुख्य अभिघा व्यापर से यहाँ कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि अभिधार्थ होगा, 'गंगा के प्रवाह में ग्राम है, यह अर्थ संभव नहीं है, इसलिये इसका बाध होता है और गंगा-प्रवाह से संबद्ध 'तट' रूप अर्थ लक्षणा अथवा शब्द की गौणवृत्ति द्वारा उपस्थित होता है।

मुख्यार्थ का बाध हो चुका, तट लक्ष्यार्थ है, तब प्रयोजन, शैत्य-पावनत्वादि की प्रतीति किस वृत्ति द्वारा होगी ? आचार्य मम्मट के प्रकरण में हम इस विषय पर मम्मट के विचार विस्तार से दे चुके हैं। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस प्रयोजन की प्रतीति आचार्य आनंदवर्धन और आचार्य मम्मट दोनों ही व्यंजना

१. का. प्र. आ. वि. द्वि. उ. पृ. ८१

२. „ „ „ „

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वृत्ति द्वारा मानते हैं। क्योंकि प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने पर उससे पूर्व उपस्थित होने वाले 'तट' रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना होगा और उसका बाध भी, परन्तु प्रयोजन की प्रतीति में 'तट' रूप अर्थ का बाध नहीं होता। प्रयोजन रूप अर्थ का 'तट' को मुख्यार्थ मानने पर, उससे संबंध भी नहीं होता, क्योंकि शैत्य-पावनत्वादि का संबंध 'गंगा' शब्द से है। प्रयोजन-विशिष्ट[1] लक्ष्यार्थ इसलिये नहीं माना जा सकता कि सभी दार्शनिक मत (मीमांसक और नैयायिक ज्ञान के विषय और उसके फल में पृथकता मानते हैं,[2] अतः ज्ञान का विषय 'तट' और उसके फल शैत्य-पावनत्वादि को पृथक्-पृथक् ही मानना होगा। प्रयोजन की प्रतीति अभिधा से इसलिये नहीं मानी जा सकती क्योंकि प्रयोजन रूप अर्थ में शब्द का संकेतग्रह नहीं है।

अतः प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही होगी। लक्षणा की प्रवृत्ति के अनंतर-प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना द्वारा होती है, इसलिये इसे लक्षणामूला व्यंजना कहा गया है—

आर्थी व्यंजना—जहाँ एक अर्थ, प्रकरणादिवश अन्य अर्थ की प्रतीति कराये वहाँ आर्थी व्यंजना कही जाती है। यह प्रतीति किस प्रकार होती है, इस प्रसंग में आचार्य मम्मट ने लिखा है--

> वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
> प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
> योऽर्थस्यान्यर्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥[3]

(१) वक्ता, (२) बोद्धव्य अर्थात् प्रतिपाद्य, (३) काकू, (४) वाक्य, (५) वाच्य, (६) अन्यसन्निधि, (७) प्रस्ताव, (८), देश (९) काल, (१०) आदि के वैशिष्ट्य से सहृदयों को (प्रतिभाजुषाम्) अन्य अर्थ की प्रतीति (अन्यार्थधीः) करानेवाला, अर्थ का (अर्थस्य) व्यापार होता है, वह आर्थी व्यंजना ही है (व्यक्तिरेव सा)।

बोद्धव्य का अर्थ आचार्य मम्मट ने प्रतिपाद्य कहा है। 'काकु' का अर्थ है, ध्वनिविकार और प्रस्ताव से तात्पर्य है प्रकरण। जब आचार्य 'अर्थ का व्यापार' कहते हैं तो 'अर्थ' में, वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य, तीनों का ही ग्रहण समझना चाहिये। वाच्यार्थ भी व्यंजक हो सकता है, लक्ष्य भी और व्यंग्यार्थ भी अन्य अर्थों का व्यंजक बन सकता है। जिन विशिष्टताओं का परिगणन यहाँ कराया गया है, वे कैसे अर्थ से अन्यार्थ की प्रतीति में सहायक होते हैं, यह क्रमशः स्पष्ट किया जा रहा है।

---

१. 'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते' का. प्र. आ. वि. द्वि. उ. पृ. ७५
२. ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्। ,, ,, ,, ७६
३. का. प्र. आ० वि० तृ० उ० पृ. ८९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(१) वक्ता के वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना-निम्नलिखित उदाहरण में—

अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥[१]

यह किसी स्त्री का कथन है, वह किसी उपनायक से संभोग करके आई है, परिणामस्वरूप शिथिलता, स्वेद आदि उसके मुख पर दिखलाई पड़ रहे हैं। वह स्त्री जल भर लाने के बहाने से उपनायक के पास गई थी। कहीं सखी अथवा प्रतिवेशिनी उसके छिपकर किये गये रति कर्म को न जान जाय इसलिये, वह पूछे इस के पूर्व ही स्वयं अपनी थकान आदि का अन्य कारण (घड़ा भर लाने) कह देती है।

'हे सखि, अत्यन्त भारी (अतिपृथुलं) पानी का घड़ा (जलकुम्भं) लेकर (गृहीत्वा) शीघ्रता से (त्वरितम्) आई हूँ (समागतास्मि)। श्रम के कारण स्वेद जल और निःश्वास से असहाय हो गई हूँ, (श्रमस्वेदसलिलनिश्वासनिःस्सहा) थोड़ी देर (क्षणम्) विश्राम करूँगी।'

इसमें वाच्यार्थ तो स्पष्ट है 'जल का घड़ा भर कर लाने की थकान के कारण उत्पन्न श्रम, स्वेद आदि का कथन।' परन्तु अपने छिपाकर किये गये रति कर्म की गोपन आकांक्षा व्यंग्य है। यह अर्थ वक्ता के वैशिष्ट्य से ही व्यंजित होगा। अर्थात् सखी अथवा प्रतिवेशिनी (पड़ोसिन) यह जानती है कि यह स्त्री ऐसी है--उपनायक के पास जाती है—साथ ही चोरी से किये गये रति कर्म के कारण घबराहट आदि के भाव भी उस स्त्री के मुख पर होंगे। इन सब विशिष्टताओं के कारण ही इस 'जल भर लाने' वाले अर्थ से; चौर्यरत गोपन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होगी। अन्यथा वाच्यार्थ ही ठीक होगा, क्योंकि जल भर कर लाने से भी थका जा सकता है, पर घबराहट नहीं होगी।

(२) बोद्धव्य अथवा प्रतिपाद्य के वैशिष्ट्य से व्यञ्जना—जिससे बात कही जाय उसके वैशिष्ट्य से भी अर्थ अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है। यथा—

औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥[२]

अर्थ—हे सखि मुझ मन्दभागिनी के लिये (मम मन्दभागिन्याः कृते) तुमको भी (त्वामपि) अनिद्रा, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और निःश्वास भोगने पड़े यह दुःख की बात है।

१. का० प्र० आ० वि० तू० उ० पृ० ८३
२. ,, ,, ,, पृ. ८३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यह नायिका की दूती के प्रति उक्ति है। दूती प्रायः नायिका का सन्देश लेकर नायक के पास जाती है और स्वयं ही वह रति में संलग्न हो लेती हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। नायक के पास संदेश लेकर गई दूती, सारी रात वहीं रही और जब लौटी तो थकी, जगी और आलस्य पूर्ण थी। नायिका ने इसीलिये कहा है कि उसके कारण वेचारी दूती सारी रात जागकर नायक को मनाती रही, फिर भी नायक न आया, इसलिये वह स्वयं को मन्दभागिनी कहती है। इस अर्थ से 'दूती' के चरित्र, (यहाँ बोद्धा) का विमर्श करने पर अन्य अर्थ की प्रतीति होती है—कि गई थी दूती सन्देश लेकर, परन्तु स्वयं ही रमण में रत हो गई, शैथिल्यादि इसी हेतु है। और 'मेरे नायक ने तुमसे रमण किया यह मेरा दुर्भाग्य है, अथवा 'तेरी जैसी को मैंने भेजा, यह मेरा दुर्भाग्य है। 'मैं तेरा रमण करना जान गई हूँ' आदि व्यंग्यार्थ होंगे, परन्तु यह बोद्धा के विमर्श से ही व्यंजना होगी। आचार्य मम्मट के अनुसार, दूती का कामुक के साथ भोग व्यंग्य है--'अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते'[1]

(३) काकु के वैशिष्ट्य से व्यंजना—कथन के वक्ता के विशेष ढंग (लहजा Tone) से भी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पांचालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतम्,
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु॥[2]

यह भीम की उक्ति है। भीम के क्रोध को देख कर सहदेव ने कहा 'इस क्रोध को जानकर गुरु (युधिष्ठिर) को खेद होगा। तब भीम ने यह श्लोक कहा है--

'राजा के भवन में (विराट राजा के भवन में) पाञ्चालतनया द्रौपदी को उस स्थिति में (तथाभूतां) देखकर, वन में वल्कलधारण करने वाले व्याधों के साथ चिरकाल निवास करके भी (वने, वल्कलधरैः है व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितम्), राजा विराट के आवास में छिप कर अनुचित कर्म करके भी, गुरु मुझ पर ही खेद से खिन्न हैं, कुरुओं पर नहीं।'

'इतने अपराध करने वाले, और हमें इतने कष्ट देने वाले कुरुओं पर राजा खिन्न नहीं हैं और मुझ पर हैं'—विशेष कण्ठ स्वर द्वारा कहे जाने पर इससे व्यंजना होगी, कि 'राजा को कुरुओं पर क्रुद्ध होना चाहिये, न कि मुझ पर'। काव्य प्रकाश के पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य में आचार्य मम्मट ने—भीम की ऐसी ही उक्ति—

---

१. का० प्र० आ० वि० तृ० उ० पृ० ८३
२. " " " " ८४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्' दी है और वहाँ व्यंग्यार्थ 'मैं कौरवों का नाश अवश्य करूँगा' आदि के काकु की सामर्थ्य से आक्षिप्त होने के कारण काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य कहा है। यहाँ भी काकु की सामर्थ्य से ही व्यंग्यार्थ उपस्थित है, तब 'तथाभूतां......' आदि में ध्वनि और 'मथ्नामि कौरवशतं......' आदि में गुणीभूत व्यंग्य का व्यवहार कैसे सम्भव है इस शंका के समाधान में मम्मटाचार्य ने कहा है कि यहाँ व्यंग्यार्थ काक्वाक्षिप्त नहीं मानना चाहिये क्योंकि 'काकु' की विश्रान्ति तो 'मुझ पर ही क्रोध करते हैं—उन पर नहीं' इस प्रश्न में ही हो जाती है। इसके उपरान्त यह व्यंग्य प्रतीति होती है कि 'मुझ पर नहीं, यदि क्रोध करना आता है तो कौरवों पर करें।' अतः यहाँ गुणीभूत-व्यंग्य नहीं मानना चाहिये।[1]

(४) वाक्य के वैशिष्ट्य से व्यञ्जना—वक्ता के वाक्य के प्राधान्य से भी व्यंजना होती है। यथा—

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥[2]

यह नायिका की उक्ति है, नायिका की सखी कहीं पास ही थी, उसका प्रतिबिम्ब नायिका के कपोल पर प्रतिबिम्बित हो रहा था, अतः नायक, नायिका के कपोल पर उसकी अप्रतिम सुन्दरी सखी के प्रतिबिम्ब को दत्तचित्त होकर देख रहा था। जब सखी कहीं चली गई तो नायक ने प्रतिबिम्ब हट जाने से देखना भी बन्द कर दिया। नायिका इस रहस्य को ताड़ गई और उसने कहा—

'तब मेरे गण्डस्थल पर निमग्न, एकान्तभाव से स्थिर दृष्टि को अन्यत्र नहीं हटाते थे, अब वही मैं हूँ, वे ही कपोल हैं, पर तुम्हारी दृष्टि वह नहीं है।'

कथित वाक्य की विशिष्टता से यह व्यंग्य प्रतीत होता है कि नायिका नायक के कामुकत्व को, अन्य स्त्री (सखी) के प्रति अनुराग भाव को जान गई है। यहाँ वाक्य कहने के ढङ्ग से (काकु से नहीं) व्यंग्यार्थ होती है।

(५) वाच्य के वैशिष्ट्य से व्यंजना—वाक्य और वाच्य के वैशिष्ट्य से व्यंजना में प्रधानता-अप्रधानता का ही भेद है—जहाँ वाक्य की प्रधानता से व्यंग्य प्रतीति हो वहाँ वाक्य वैशिष्ट्य से और जहाँ वाच्यार्थ के प्राधान्य से ही वहाँ वाच्य वैशिष्ट्य से व्यंजना समझनी चाहिये। यथा—

१. न च वाच्यसिद्ध्यंगमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यंग्यत्वं शंक्यम्। प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः.........का० प्र० आ० वि० तृ० उ० पृ० ८५
२. का० प्र० आ० वि० तृ० उ० पृ. ८५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुंजोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमोनर्मदायाः ।
किंचैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः,
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥[1]

नायक, नायिका से कह रहा है--'सरस कदली की पंक्तियों से अत्यन्त शोभित (सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी), कुंजों के उत्कर्ष से रमणियों में विभ्रम, हाव-भाव, उत्पन्न करने वाला (कुंजोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो) नर्मदा का (नर्मदायाः, नर्म रतिसुखं ददाति इति नर्मदा) ऊँचा प्रदेश है (उद्देशोऽयं)। और हे तन्वि, यहाँ (एतस्मिन्) सुरत का मित्र (सुरतसुहृदः) वात-पवन (वाताः) चलते हैं (वान्ति), जिन पवनों के आगे (येषामग्रे) अनवसर चाप धारण किये (कलिताकाण्डकोपः) कामदेव (मनोभूः) चलता है (सरति)।

इस श्लोक में, नर्मदा प्रदेश के विशिष्ट विशेषणों के वाच्य से यह प्रतीत होता है कि अत्यन्त उपयुक्त स्थान और अवसर है, रत्यार्थ कुंज में चलें। यह अर्थ इन विशेषणों के वाच्यार्थ से ही व्यंजित होता है।

(६) अन्य सन्निधि के वैशिष्ट्य से व्यंजना—कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि हम किसी से कुछ कहते हैं, परन्तु वास्तव में हम ऐसे किसी व्यक्ति को कुछ विशिष्ट संकेत देना चाहते हैं, जो कहीं आस-पास ही उपस्थित होता है। जैसे--इस श्लोक में—

नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले।
क्षणमात्र यदि संध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥[2]

किसी दुखी वधू का कथन है 'निर्दय सास (अनार्द्रमनाः श्वश्रूः) घर के सारे कार्य में (गृहभरे सकले) मुझे (माम्) ही लगाये रहती है (नुदति); संध्या में (सन्ध्यायां) क्षण भर को विश्राम (क्षणमात्रं विश्रामः) मिलता है या न भी मिले (भवति न वा भवति) वाच्यार्थ बहुत स्पष्ट है, 'सास द्वारा कराये गये कार्यातिशय का दुःख'। परन्तु, वधू यह कथन, पास ही स्थित नायक अथवा उसके मित्र को सुनाकर कह रही है। इस अन्य व्यक्ति के नैकट्य (अन्यसन्निधि) के कारण इसमें यह अर्थ भी प्रतीत होता है, दिन भर कार्य में व्यस्त रहती हूँ, समय नहीं मिलता, संध्या को कुछ समय के लिये अवसर मिलता है—कभी वह भीनहीं मिलता, अतः संध्या में ही कुछ समय के लिये मिलन का अवसर मिल सकता है, आदि' यह व्यंग्यार्थ अन्यसन्निधि के कारण ही सम्भव होता है।

१. का० प्र० आ० वि० तृ० उ० पृ. ८६
२. ,, ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(७) प्रस्ताव के वैशिष्ट्य से व्यंजना—किसी के प्रस्ताव से भी व्यंजना होती है, जैसे—

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तद् सखि सज्जय करणीयम् ॥[1]

में सखी का कथन नायिका से है—'सुनते हैं (श्रूयते) तुम्हारे पति आज (तव प्रियोऽद्य) प्रहरमात्र में (प्रहरमात्रेण) आजाएँगे (समागमिष्यति), तब ऐसे क्यों बैठी हो (एवमेव किमिति तिष्ठसि) करने योग्य कार्य करो (सखि, सज्जय करणीयम्)' इस कथन में जो प्रस्ताव है—'ऐसे ही क्यों बैठी हो—करणीय करो ।' इससे प्रतीत होता है कि 'उदास क्यों बैठी हो—भोजनादि की व्यवस्था करो,' क्योंकि नायिका उदास है, पति के आगमन के समय भी, अतः उसका कोई अन्य प्रेमी भी है, तब व्यंग्यार्थ होता है,—कि 'उपपति के पास जाने का समय नहीं है, तुम्हारा पति पहर भर में आने वाला है, उसे प्रसन्न करने का समान करो ।' यह व्यंजना—

'एवमेव किमिति तिष्ठसि तद् सखि सज्जय करणीयम्'

इस प्रस्ताव से होती है । अतः प्रस्ताव वैशिष्टच से व्यंजना कही गई है ।

(८) देश के वैशिष्टच से व्यंजना—देश के वैशिष्ट्च से व्यंजना का आचार्य मम्मट ने यह उदाहरण दिया है—

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥[2]

यह नायिका का कथन है—'सखियो (सख्यः) तुम लोग (यूयं) अन्यत्र पुष्प-चयन (अन्यत्र कुसुमावचायं) करो (कुरुध्वम्) यहाँ मैं करती हूँ (अत्रास्मि करोमि), मैं दूर भ्रमण करने में समर्थ नहीं हूँ (नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था) प्रसन्न होओ (प्रसीदत) आपके यह हाथ जोड़ती हूँ (वः रचितोऽञ्जलिः) ।

व्यंग्यार्थ है—'सखियाँ दूर जा रही हैं, एकान्त स्थान होगा, अतः प्रेमी को यहाँ भेज दो'। यह कथन किसी विश्वस्त सखी के प्रति है । 'देश की एकान्तता की विशिष्टता से यह अर्थ प्रतीत होता है ।[3]

(९) काल के वैशिष्ट्य से व्यंजना—विशेष समय में कथन करने से भी वाच्यार्थ व्यतिरिक्त अर्थों की व्यंजना होती है । यथा इस श्लोक में—

---

१. का. प्र० आ० वि० तृ० उ० पृ० ८७
२. ,, ,, ,, ८७
३. अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते………पृ० ८७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गुरुजनपरवशप्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम् ।
अथ प्रवासं व्रजसि व्रज स्वमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥[1]

नायिका अपने पति से कह रही है—'गुरुजनों की आज्ञा के कारण परवश, हे प्रिय ! (गुरुजनपरवश प्रिय) मैं मन्दभागिनी क्या कहूँ (मन्दभागिनी अहकं किं भणामि) यदि आज प्रवास को जाते हो (अद्य प्रवासं व्रजसि) तो जाओ (व्रज) स्वयं ही सुनलोगे (स्वमेव श्रोष्यसि) क्या करना चाहिये (करणीयम्) ।

नायिका का यह कथन वसन्त ऋतु में कहा गया है—अतः काल, समय (बसंत ऋतु) के वैशिष्टय के कारण यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि 'आज बसंत की ऋतु में भी यदि तुम जाते हो, तो जाओ, मैं जीवित न रहूँगी, और तुम स्वयं सुन लोगे कि मैंने क्या किया है ।' बसंत में विरह महाकठिन होगा, अतः नायिका बच न पायेगी । अतः यह प्रतीति' बसंत के वैशिष्टय से होती है ।

(१०.) चेष्टा का व्यंजकत्व—आर्थी व्यंजना किन-किन कारणों से होती है, उन कारणों का निर्देश जिस श्लोक में किया गया है, उसमें 'कालादेर्वैशिष्ट्यात्' कहा गया है । आदि से तात्पर्य 'चेष्टा' आदि ग्रहण करना चाहिये । चेष्टाओं से भी व्यंजना होती है । इसका उदाहरण यह है—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया,
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने,
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं संकोचिते दोर्लते ॥[2]

'मेरे दरवाजे के निकट पहुँचने पर (अयि द्वारोपान्तनिरन्तरे) उस अनिन्द्य सुन्दरी के द्वारा (तया सौन्दर्यसारश्रिया ।) जाँघों को फैलाकर पुनः सिकोड़ कर परस्पर चिपटा लिया गया (प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्), घूंघट (शिरोंऽशुकम्) आगे डाल लिया गया (पुरतः आनीतम्), चंचल नेत्र नीचे कर लिये गये (चले लोचने अधः क्षिप्ते) और वाणी रोक ली गई (वाचस्तत्र प्रसरणं निवारितं) और बाहुलता संकुचित कर ली गई (दोर्लते संकोचिते) ।

उपर्युक्त में नायक के पहुँचने पर, नायिका ने जो चेष्टाएँ की वे कही गई हैं, नायिका ने कुछ भी नहीं कहा, पर चेष्टाओं से कान्तविषयक रतिभाव पूर्णरूपेण व्यंजित हो गया है । इसीलिये वाचकत्व से व्यञ्जकत्व का भेद प्रतिपादित करते हुए कहा था कि, वाचकत्व के लिये शब्द का आश्रय आवश्यक है, पर व्यंजकत्व के लिये शब्द की अपेक्षा नहीं है । बिना शब्द भी, मात्र चेष्टा अथवा नेत्र के त्रिभाग से भी व्यंजना होती है । उपर्युक्त उद्धरण, इस तथ्य का उदाहरण है ।

१. का. प्र. आ; वि. तृ. उ. पृ. ८८
२. ,, ,, ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने उन कारणों का उन्मीलन किया जिनके सहयोग से आर्थी व्यंजना संभव होती है। व्यंजना के निष्पादन में प्रकरणादि का विमर्श सहयोगी होता है। यह सहयोग उपर्युक्त दस उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। 'प्रकरणादि' के 'आदि' से देश, काल, प्रस्तावादि का ग्रहण करना चाहिये। एक अथवा दो उदाहरणों में भी इन सभी आर्थी व्यंजना रूपों को समझाया जा सकता था, परन्तु जिज्ञासा की निवृत्ति और अवसर के कारण ही इतने उदाहरण दिये गये हैं।[1]

जैसे वाच्यार्थ के व्यंजकत्व का प्रतिपादन प्रस्तावादि के कारण यहाँ किया गया है, वैसे ही लक्ष्यार्थ भी व्यंजक होता है, जैसे 'गंगायां घोषः' में है ही। एक व्यंग्यार्थ भी अन्य अर्थों की व्यंजना करा सकता है। इसीलिये वाच्य, लक्ष्य और तीनों व्यंजकत्व कहा है।

आर्थी व्यंजना में शब्द का सहयोग—

आर्थी व्यंजना में एक अर्थ अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, परन्तु यह व्यंजक अर्थ शब्द-प्रमाण से ही ज्ञात होता है—अतः अर्थ के व्यंजकत्व में शब्द की सहकारिता निर्विवाद है। इसीलिये कहा है—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता ॥[2]

अर्थात्, शब्द के प्रमाण से वेद्य अर्थ ही अर्थान्तर की व्यक्ति कराता है अतः अर्थ के व्यंजकत्व में शब्द की सहकारिता रहती ही है। इसका यह भी तात्पर्य है कि शब्द प्रमाण से वेद्य अर्थ ही व्यंजक होता है, अन्य प्रमाणों से वेद्य अर्थ नहीं—

'नहि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यंजकः'[3]

अतः अनुमानादि प्रमाणों से प्राप्त अर्थ के व्यंजकत्व का निषेध गया किया है।

कविराज विश्वनाथ द्वारा व्यञ्जना स्वरूप तथा भेद निरूपण—

अभिधा और लक्षणादि के विरत हो जाने पर, जिस वृत्ति से अभिधेयार्थ से व्यतिरिक्त व्यंग्यार्थ कहा जाने वाला अर्थ बोधित होता है, वह वृत्ति व्यंजना कही जाती है। यह व्यंजना शब्द और अर्थ दोनों की ही वृत्ति है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यतेऽपरः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

---

१. निराकांक्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते।
२. का. प्र. आ. वि. तृ. उ. पृ. ८९
३. ,, ,, ,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस कारिका की वृत्ति में कविराज ने कहा है, कि 'शब्द-बुद्धि-कर्म्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इस न्याय से, अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति के अपने अपने अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाने पर, जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ का बोध होता है वह व्यंजना है।

कविराज विश्वनाथ ने भी व्यंजना के वही भेद स्वीकार किये हैं, जिनका विवेचन आचार्य मम्मट कर चुके हैं। शाब्दी व्यंजना के दो भेद, अभिधामूलक और लक्षणामूलक।

अभिधामूला—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधीर्हेतुर्व्यंजना साभिधाश्रया॥

संयोगादि अभिधानियामकों का परिगणन और उदाहरण भी कविराज का परम्परा भुक्त है। लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के लिये भी परम्पराप्राप्त मान्यता है—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यंजना लक्षणाश्रया॥

आर्थी व्यंजना की परिभाषा भी वही है जो आचार्य मम्मट ने दी है। वक्ता, वाक्य, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना का एक ही उदाहरण कविराज ने दिया है—

"कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः।
केलीवनीयमपि वंजुलकुंजमंजु—
दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य॥"

"वसन्त की मादक ऋतु है, कामदेव कुपित हो रहा है, रतिखेद का हरण करने वाली मादक पवन चल रहा है केलीवन भी बड़ा मनोहर लग रहा है, और पति पास नहीं है, कहो क्या करना चाहिये?"

बोद्धव्य वैशिष्ट्य का उदाहरण "निःशेषच्युतचन्दनं……' आदि ही दिया गया है। इसके अतिरिक्त चेष्टादि के वैशिष्ट्य के उदाहरण भी हैं। कविराज ने भी वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों का ही व्यंजकत्व प्रतिपादित किया है—जैसे 'कालो मधुः' आदि वाच्य के व्यंजकत्व का उदाहरण है, 'निःशेषच्युतचन्दनं……' आदि लक्ष्यार्थ के व्यंजकत्व का उदाहरण है। तथा 'पश्य निश्चलनिस्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका' आदि व्यंग्यार्थ के व्यंजकत्व का उदाहरण है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शाब्दी व्यंजना में अर्थ का सहयोग और आर्थी व्यंजना में शब्द की सहकारिता भी यथापूर्व स्वीकार की गई है।

ध्वनि सिद्धान्त : काव्य रचना प्रक्रिया के संदर्भ में

"नया हिन्दी काव्य" कब से प्रारंभ हुआ, इस विषय में स्वयं नए कवि, कवि-आलोचक और समीक्षकों मे मतैक्य नहीं है। कवि-व्याख्याता श्री गिरिजाकुमार माथुर[1] सन् १९४० से नूतन काव्य का सविधि प्रारंभ मानते हैं। कवि-आलोचक श्री शंभुनाथसिंह[2] ने सन् १९५० से नई कविता का उन्मेष प्रतिपादित किया है। किन्तु जिस प्रसंग में नए कवि, अकवि, उनके आलोचक-समीक्षक एकमत हैं वह यह कि नए हिन्दी काव्य का मूल्यांकन किसी पारंपरिक काव्यशास्त्रीय निकष पर संभव नहीं है। नई कविता का शास्त्रकार हो अथवा अकविता का आचार्य, एकांत रूप से भारतीय काव्यशास्त्र-परंपरा का निषेध करता है। अपना "नाद-सिद्धान्त" गढ़ने का दंभ करता हुआ नया कवि कहता है कि इसे संस्कृत काव्य-शास्त्र के "ध्वनि-सिद्धान्त" से[3] कन्फ्यूज़ न किया जाय ? परन्तु, वह स्वयं काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में इतना कन्फ्यूज्ड होता है कि 'आनंदवर्धन के रस सिद्धान्त' जैसे असंगत वाक्य भी लिख देता है। आज नई कविता के बीस अथवा तीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी कोई सामान्य अथवा विशेष प्रतिमान निर्धारित नहीं हो पाए हैं और ६६ तथा ६८-६९ में प्रकाशित पुस्तकों में भी यही घोषित किया जाता रहा है कि नयी कविता पारंपरिक निकष पर नहीं परखी जा सकती। नई कविता अकविता के काव्य के सम्बन्ध में जो दावे किए जाते रहे हैं—उनकी भ्रामकता के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। जिस मोह में ये दावे किए गए हैं वह अधिक अस्पष्ट नहीं है। रीतिकाल पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि तब आचार्यत्व और कवित्व एक ही व्यक्तित्व में सीमित हो गए थे। वर्तमान स्थिति भी कुछ अधिक भिन्न नहीं है। प्रथमतः कवि, कविता रचता है फिर उसकी भूमिका, दर्शन, लक्षणादि। इस प्रवृत्ति के मूल में नए कवियों—अकवियों के अहं की तीव्र ईहा है, जिसके अनुवर्ती बने ये निरर्थक शब्द-जाल रचते हैं। अहं-चेतना की परितुष्टि के लिए ही ये लोग प्रलापरत हैं। प्रमाणार्थ अज्ञेय का नई कविता-विषयक यह कथन विचारणीय है—

"नयी कविता की मूल विशेषता है, सृष्टि और मानव जाति के परिपार्श्व में मानव जाति और मानव का नया सम्बन्ध व्यक्तकरना।" तथा मानव की जैविक परंपरा का अध्ययन कर, व्यक्तित्व के विकास के आधार को पहचान कर, मानव

---

१. नई कविता, सीमा और संभावनाएं : श्री गिरिजाकुमार माथुर,
२. प्रयोगवाद और नई कविता : श्री शंभुनाथ सिंह
३. नई कविता, सीमा और संभावनाएं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मन को समझना, उसके राग–विकार आदि को जानना और इस आधार पर मानवी संबंधों का वाहक बनना।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त पंक्तियों में जो कुछ कहा गया है, या तो सभी काल और देश के काव्य के लिए सही है अथवा नई कविता तो क्या किसी भी काव्य का उससे दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उपर्युक्त तथा ऐसे ही शतशः अपलापों से नई कविता-अकविता की व्याख्या की जाती रही है। भारी-भरकम, किसी निश्चित अर्थ के द्योतन में असमर्थ शब्दों का प्रयोग तभी किया जाता है जब, या तो वक्ता के मन में कथ्य ही स्पष्ट न हो अथवा वह अल्प कथ्य को भारी बनाकर कहना चाहे। भारतीय-साहित्य-परंपरा में नई कविता से पूर्व किसी भी रचनाकार का अहं इस-प्रकार व्यक्त नहीं हुआ जितना नए कवियों और आलोचकों का। नई कही जाने वाली कविता और अकविता के बहुत से उद्धरण अर्थगर्भित हैं, स्वयं (अकवि) श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी आदि की अनेक कविताएं अच्छी कविता के उदाहरण हैं, परन्तु, ये स्वयं कविता के संबन्ध में जो कुछ कहते हैं वह दुरूह तो होता ही है--उसमें और कविता में कोई सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता। वस्तुतः नए और (अ) कवि कविता तो कवि की मनःस्थिति में रचते हैं और व्याख्या लिखते समय योरोपीय विचारकों से प्राप्त ओढ़ा हुआ दर्शन, कोष से उपलब्ध अनूदित टक्साली शब्द सप्रयास जटिल वाक्य रचना, हिन्दी-कविता जगत में बने कवि-आलोचकों के वर्ग और तज्जनित द्वन्द्व का भाव उन पर हावी होता है। नई कविता-अकविता पर सर्वाधिक अत्याचार इसी प्रकार के लेखकों ने किया है और इसका श्री गणेश हुआ था "नयी कविता के प्रतिमान" पुस्तक से।

क्या, आज भी नई कविता के प्रतिमान स्थापित हो पाए हैं ?, पारंपरिक काव्यशास्त्र का निषेध करके भी क्या श्री लक्ष्मीकांतादि नई कविता का कोई निकष प्रस्तुत कर सके हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर भली भांति स्पष्ट हैं।

वस्तुतः, काव्यतत्त्व-चिन्तन केवल सामयिक काव्यरूपाकारों अथवा प्रवृत्तियों पर आधृत नहीं होता। काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति सदैव द्विआयामिक होती है—एक में काव्य के शाश्वत सत्य की शोध एवं तज्जन्य मूल्यों का उद्‌घाटन होता है, द्वितीय में वह सामयिक काव्य प्रवृत्तियों का विवेचन—परीक्षण करता है। सामयिक काव्य के प्रभाव के कारण कतिपय धारणाएँ काव्यशास्त्र में प्रविष्ट हो जाती हैं, कालप्रवाह में ये धारणाएँ तिरोहित होती जाती हैं, नूतन सम्मिलित हो जाती हैं। इन सामयिक धाराओं से मूल तत्त्वचिंतन पर प्रभाव नहीं पड़ता अतः सामयिक तत्त्वों के आधार पर काव्यशास्त्र के चिरन्तन तत्त्वचिन्तन का निषेध नहीं किया जा सकता।

---

१. हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य···पृ० १४३ अज्ञेय

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा ईसा की चौथी शताब्दी से प्रारंभ होती है। इस काव्यशास्त्र-चिन्तन में ऐसे निकष सुनिहित हैं जिन पर नई कविता-अकविता ही नहीं किसी भी काल की, किसी भी कविता प्रवृत्ति की व्याख्या की जा सकती है। हमारा निश्चित मत है कि कविता का परिवेश बदलता है, कथ्य बदलता है, पर काव्य की रचना प्रक्रिया नहीं बदलती। नए प्रतीक प्रयुक्त किए जाएँ, बिम्ब खण्डित हों या पूर्ण परन्तु वह प्रक्रिया जिसमें गुजर कर अनुभूति कविता रूप में अभिव्यक्त होती है, समय सापेक्ष तत्त्व नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र इस प्रक्रिया के आधार पर ही काव्य के निकष उपपादित करता है। इन निकषों का निषेध करना, काव्य के संपूर्ण तत्त्व का निषेध है। गत वर्षों में स्वयं को परम्परा से पृथक्, कटा हुआ सिद्ध करने की प्रवृत्ति, फैशन के स्तर पर दिखलाई पड़ रही है। योरप में यह प्रवृत्ति १९ वीं शती की विशेषता रही है। इस शती ने सत्ता (Authority) के बंधनों को अस्वीकार कर पुनः व्यक्ति सामर्थ्य की स्थापना की। रूसो (Rousseau) ने लिखा है—'मैं किसी पूर्वपरिचित के समान नहीं हूँ, यदि मैं किसी से उत्तम नहीं भी हूँ तो उनसे भिन्न तो हूँ ही।'[1]

स्वयं को पृथक् दिखलाने की प्रवृत्ति के अतिरिक्त में ही नई कविता की वैसी भीषण व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। कविता के द्वारा मुक्ति पाने की आकांक्षा वाले ये कवि कविता के प्रति भी ईमानदार हैं या नहीं यह उनके समझने की बात है। ये अपनी कविता को भले ही किसी से प्रतिबद्ध न मानें पर ये स्वयं तो कविता से प्रतिबद्ध हों ?

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त जैसा कि हम कह चुके हैं, शाश्वत काव्यतत्त्व का चिन्तन है और नयी कविता अथवा अकविता के लिए भी उतने ही दृढ़, नैकषिक आधार प्रस्तुत करते हैं, जितने किसी अन्य कविता के लिए। विशेष-विशेष दर्शनों का आधार ग्रहण करती हुई भी, भारतीय काव्य शास्त्र-परम्परा काव्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं करती। इस पृष्टभूमि पर व्यञ्जना-व्यंग्य पर आधृत आनंदवर्धन का ध्वनि सिद्धान्त परीक्षणीय है। ध्वनि सिद्धान्त काव्य के शाश्वत तत्त्व शब्द और अर्थ का तर्कसम्मत विवेचन प्रस्तुत करता है। अपने से पूर्व तक के सभी मतों की अर्थ से जुड़ी हुई व्याख्या ध्वनिसिद्धान्त में है। शब्द और अर्थ से भिन्न कविता का अस्तित्व नहीं है, ध्वनिसिद्धान्त शब्द और अर्थगत मूल्यों का ही प्रतिपादन है। ध्वनिसिद्धान्त के अंतर्गत काव्य के जो तीन भेद किये गए हैं, वे वस्तुतः काव्य की शाश्वत रचना प्रक्रिया पर आधृत है—अतः ध्वनिसिद्धान्त के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने पूर्व कविता की रचना प्रक्रिया पर विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा।

---

१. "I am not made like any one else. I have ever kmown, yet if I am not bette at leat sir am different."

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किसी तथ्य का प्रत्यक्ष कथन किया जा सकता है—जीवन में ऐसा होता ही है—किन्तु, यह प्रत्यक्ष कथन कविता नहीं कहा जा सकता। कविता में कथ्य और शिल्प दोनों का सहअस्तित्व अपेक्षित है। कवि (जिस में कवित्व की जन्मजात प्रतिभा है, और जिसने अभ्यास भी किया है।) सदैव अपने आवेग को कविता कीं कलात्मक सीमाओं में व्यक्त करता है। प्रेरणाप्रद आवेग के अभाव में रचना मात्र कलाकारी होगी और शिल्प के सम्यक् योग के अभाव में नितान्त वैयक्तिक एवं विकेन्द्रित वस्तु बन जाएगी। कवि, यदि अपने अतिरिक्त किसी एक से भी कविता को जोड़ने की अपेक्षा करता है तो उसे शिल्प का आश्रय ग्रहण करना ही होगा। कवि की संप्रेषण अभिलाषा में अन्य की अपेक्षा सिद्ध ही है। किन्तु, स्थितियाँ दोनों ही सम्भव हैं, ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं, जिनमें शिल्प का प्रत्यक्ष अभाव प्रतीत होता है और ऐसी भी जिनमें कथ्य और शिल्प का सुन्दर योग है। प्रथमतः हम इस धारणा पर विचार करेंगे कि कविता में शिल्प अनिवार्य तत्व है।

आवेग कविता का मूलभूत तत्त्व है, शिल्प इस वैयक्तिक आवेग को सहृदय संवेद्यता प्रदान करता है। कविता का शिल्प, उसमें ऊपर से जोड़ा तत्त्व नहीं है, वह कविता-रचना-प्रक्रिया में स्वयं सम्भूत तत्त्व बन कर उभरता है। कवि की कामनाओं, इच्छाओं और आकांक्षाओं का पुंजीभूत रूप आवेग है। यदि कवि मानस एकाकी, अनवरुद्ध हो तो उसकी आवेगान्तर्भुक्त सभी आकांक्षाएँ पूर्ण हो सकती थीं, किन्तु सामाजिक परिवेश में स्थित होने के कारण यह सम्भव नहीं होता। अतः आवेगोत्प्रेरित विचार परिवेश अन्य स्थितियों से बाधित होता है। परिणामतः कवि के आवेगों (impulses) और परिवेश अन्य नियन्त्रण में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है।

आवेग, व्यक्ति की मूल अथवा प्रथम प्रवृत्ति है—अपने से भिन्न व्यक्ति का उसके सम्बन्ध में क्या मत है, यह जानने की इच्छा और उस मत के सम्बन्ध में श्रद्धा का भाव अर्जित है, जो व्यक्ति सभ्यता के दौर में सीखता है। अतः यह अर्जित भाव व्यक्ति की गौण प्रकृति (Secondary) है। भारतीय विचार परम्परा यह स्वीकार करती है आत्मा कर्मभोग के लिए ही शरीर धारण करता है। यह शरीर आत्मा के संस्कारों, भोगाकांक्षाओं के अनुरूप होता है। आत्मा इस भौतिक मृन्मय शरीर के द्वारा रूपायित होकर इसी के द्वारा अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति करती है। इसीलिए आकांक्षाजनित आवेग को मूल अथवा प्रथम प्रवृत्ति कहा गया है। द्वितीय प्रवृत्ति आकांक्षा पूर्ति में बाधा उत्पन्न करती है अतः व्यक्ति की ये दो प्रवृत्तियाँ-मूल और अर्जित-द्वन्द्वात्मक हैं। सृजनशील व्यक्तित्व में, इस द्वन्द्व का परिणाम 'कलात्मक अभिव्यक्ति' है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वैयक्तिक आवेग काव्य रचना का प्रेरणास्रोत है—पारिवेशिक नियन्त्रण जन्य अपेक्षाओं के कारण यह आवेग प्रकृत रूप में व्यक्त नहीं हो पाता, कवि इसे वाच्य रूप में अभिव्यक्त न कर व्यंग्य रूप में उपस्थित करता है। इसीलिए कहा गया है कि पारिवेशिक सत्ताजन्य नियन्त्रण आवेग को कलात्मक रूप देता है। इससे यह निष्कर्ष भी निःसृत होता है कि कला—प्रत्येक दशा में सामाजिक तत्व हैं।

स्वभावतः विद्रोही होते हुए भी कवि गौण वृत्ति की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता, इसलिए वह अपने आवेग और पारिवेशिक सत्ता—अन्य नियन्त्रण में समन्वयन का प्रयत्न करता है। 'समन्वयन के प्रयत्न' में ही काव्य दृष्टि (Poetic vision) विकसित होती है। और कवि अपने कथ्य को प्रत्यक्ष न कहकर संकेतित (suggest) करता है। जब गिन्सवर्ग की प्रेरणा से उत्तेजित समीरराय चौधरी "कौलेप्सिबल जाँघों, पर गुलाब" की बात कहते हैं तो उधेड़ने का दावा करते हुए भी, प्रतीक का ही आश्रय लेते हैं। अतः काव्यदृष्टि कवि की भावना को व्यंग्यत्व की ओर अनुप्रेरित करती है। इसी अभिप्राय से जॉन केले (John keble) ने कविता को शब्दों के माध्यम से परोक्ष अभिव्यक्ति कहा है। अतः कविता में आवेग की सीधी (disect) अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। व्यंग्य होना ही कथ्य की नियति है। कथ्य व्यंग्य बनकर पूर्णतया व्यक्त हो सके, इसी में काव्यदृष्टि की सफलता है।[1] 'पो' (Poe) भी वाच्यार्थ की बाह्य पारदर्शी धारा में निहित व्यंग्यार्थ में ही काव्य का सौन्दर्य प्रतिपादित करता है।[2] अर्थस्थितियों के अनेक भेद दिखलाकर एम्पसन (Empson) भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। एवर क्रोम्बी की वैचारिक परिणति भी इसी धारणा का प्रतिपादन हैं। 'कथ्य' की 'व्यंग्यत्व' प्रदान कर, एक ओर कवि अपने व्यक्ति को संतोष देता है, दूसरी ओर सामाजिक अपेक्षाओं को भी पूर्ण करता है। कथ्याभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया उसके 'अहं' की सन्तुष्टि का आनन्द देती है। यदि भावक की दृष्टि से विचार करें तो भी यह सिद्ध होगा कि कवि की व्यंग्यपरक कृति को ग्रहण कर, वाच्यार्थ के माध्यम से, मूल आवेग की निहित जिसमें है, उस व्यंग्यार्थ तक पहुंचकर भावक की बुद्धि को तोष होता है।

---

1. "Similarly in poetry a direct experssion is improper or impossible; a veiled or poetical one is recourse. The motive impulse in poetry is supplied by the poetic desires. But these can not give themselves free expression. They are met by the repressive forces of authority-regard for appearance, convention morality which conflict with and control them. The result is an indirect or veiled expression, which we call poetry. "The poetic mind, Page 241".
2. in which there lies beneath the transparent upper current of meaning an under or suggestivc onc--The poetic mind Page. 244.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्व० ग० मा० मुक्तिबोध[1] ने कवि की दृष्टि से कला की रचना प्रक्रिया के तीन क्षण माने हैं। कला के प्रथम क्षण में जीवन का उत्कृष्ट तीव्र अनुभव निहित होता है—इसे अनुभव क्षण कहा जा सकता है। द्वितीय क्षण में यह अनुभव अपने कसकते-दुखते मूल से पृथक होता है और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेता है मानों वह फैण्टेसी आँखों के सामने खड़ी है, तृतीय और अंतिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की रिपूर्णावस्था तक की गतिमानता। इस गतिमानता में फैन्टेसी अनवरत रूप में विकसित-परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है। फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में मूलरूप में जो विकास होता है, वही कलासृजन का तृतीय क्षण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला सृजन के द्वितीय क्षण में ही कवि की अनुभूति व्यंग्य बनने लगती है, क्योंकि ज्योंही अनुभूति फैन्टैसी का रूप ग्रहण करती है, वह भोक्ता कवि से पृथक् हो जाती है और कवि उसका स्वतंत्र द्रष्टा हो जाता है। प्रतीक, बिम्ब आदि का संयोजन इसी स्थिति में होता है। इस फैण्टेसी को शब्द देने की प्रक्रिया में कविता मूर्त होती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कविता-कला का सौन्दर्य व्यंग्यत्व जन्य ही होता है, वाच्यत्व में नहीं।

अतः कवि यदि अपने परिवेशजन्य अनुस्थितियों में स्थित है उनसे कटा नहीं है, कटने का आकांक्षी भी नहीं है और उसने आवेग के उच्छलन और परिवेशजन्य नियंत्रण को झेला है, अभिव्यक्ति की छटपटाहट को अनुभव किया है तो वह अपनी अनुभूति को व्यंग्य रूप में ही प्रस्तुत करेगा।

भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा में आनंदवर्धन का आविर्भावकाल ८५० ई० माना जाता है। आनंदवर्धन ने अब से ग्यारह सौ वर्ष पूर्व कविता के इस चिन्तन का उद्घाटन किया था। शब्द और अर्थ की समवित्ति का प्रतिपादन भामह भी कर चुके थे। "रीति" को काव्य की आत्मा कहकर वामन ने विस्तारपूर्वक दस शब्द गुण और दस अर्थगुणों का व्याख्यान किया, यद्यपि वामनकृत यह आख्यान भौतिक शरीर को आत्मा कहने के समान था। भरत का रस संदर्भीय सूत्र भी विद्यमान था। इस पूर्वप्राप्त के परिवेश में आनंदवर्धन का यह सिद्धान्त सृजन की रचना प्रक्रिया से संबद्ध है। कविता का प्रथम भौतिक आधार शब्द और अर्थ है। ध्वनिसिद्धान्त में शब्द, और अर्थ विषयक समस्याओं के सभी आयामों का तर्कसम्मत विवेचन हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, रचना प्रक्रिया में ही कवि की अनुभूति व्यंग्य बनने लगती है, अतः कविता में वाच्यरूप में उपस्थित अर्थ कवि की अनुभूति को प्रकट नहीं करता। इसलिए कविता की प्रेरक अनुभूति तक पहुँचने के लिए वाच्यार्थ के द्वारा निहित व्यंग्यार्थ तक पहुँचना होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कवि की सृजन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

१. एक साहित्यिक की डायरी पृ. १६ ग० मा० मुक्तिबोध।

सामर्थ्य इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वह अपनी अनुभूति को व्यंग्यत्व की पूर्णता तक पहुँचा सके। इसके लिए उसे शब्द चयन में इतना सायास होना चाहिए कि प्रयुक्त शब्द और वाच्यार्थ व्यंग्यनिष्ठ हों। इसी समस्या के समाधान हेतु आनंदवर्धन ने कहा कि महाकवि को उस अर्थ (जिसमें अनुभूति साकार होती है, और जो व्यंग्य ही होता है।) और उस अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि शब्द मात्र उस अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं होता।[1] कविता के मर्म तक प्रत्येक व्यक्ति नहीं पहुँच पाता। शब्द, कोषगत अर्थ और वाच्य रचना के व्याकरिणक नियम भले हो सब जान लें, परन्तु व्यंग्यार्थ तक पहुँचने के लिए जिस सहृदयत्व की आवश्यकता है, वह सबके पास नहीं होता। नए कवियों ने बार-बार यह घोषणा की है कि उनकी कविता विशिष्ट पाठकों के लिए है। सच तो यह है कि कविता अभिव्यक्ति की ऐसी विद्या है जो विशिष्ट जनों के लिए ही है। कविता जनसामान्य के लिए कभी नहीं रही। भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा ने सदैव सहृदय का विधान किया है, वही व्यक्ति काव्य के मर्म को जान सकता है जो काव्यार्थतत्त्व को जानता है[2]। जिसके पास कविता को समझने में सहायक सहृदयत्व के संस्कार हैं।

भारतीय विचार परम्परा भौतिक शरीर के साथ आत्मा का महत्त्व देती है। अपनी अभिव्यक्ति के लिये शरीर पर निर्भर रहते हुये भी, आत्मा का प्राधान्य निर्विवाद है। अभी हम जिस काव्य रचना प्रक्रिया का विवेचन कर आए हैं, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की अनुभूति, कविता में व्यंग्य रूप में निहित होती है। शब्द और वाच्यार्थ उसे व्यक्त करने के साधन हैं। जैसे आत्मा को व्यक्त करने का साधन शरीर है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ के सन्दर्भ में, शब्द और वाच्यार्थ, दोनों ही शरीर धर्म का पालन करते हैं। स्पष्ट है कि इस स्थिति में व्यंग्यार्थ का ही प्राधान्य होगा। इसी सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ को काव्य की आत्मा कहा है, वही प्रतिपाद्य भी हैं। यही कारण है कि शब्द और वाच्यार्थ का प्रतीयमान अर्थ के प्रति "तत्परत्व" भाव प्रतिपादित किया गया है।[3]

शब्द और वाच्यार्थ के व्यंग्यनिष्ठ होने पर ही कविता, रचना प्रक्रिया की दृष्टि से पूर्ण कही जाएगी और ऐसी ही कविता को आनन्दवर्धन श्रेष्ठ काव्य प्रतिपादित

१. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौं महाकवेः ।। ध्वन्यालोकः पृ० उ० पृ० ४७

२. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम् ।। ध्व० प्र० उ० पृ० ४६

३. तत्पराविव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ प्र० उ० पृ० ७३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करते हैं।[1] उत्तम काव्य ही ध्वनि काव्य भी है, आनन्दवर्धन ने "ध्वनि" पद का प्रयोग विशेष मन्तव्य से किया है। काव्य, जिसमें शब्द और अर्थ व्यंग्यनिष्ठ भाव से स्थित हों, व्यंग्यार्थ की प्रधान सत्ता के कारण प्राणवान भी होगा और ध्वनि तो प्राणवत्ता का प्रमाण है। इसीलिए आचार्य ने "ध्वनि" पद का प्रयोग किया है। निष्कर्षत: कहा जा सकता कि शक्त एवं प्राणवान काव्य वही होगा जिसमें कवि की अनुभूति व्यंग्य रूप में स्थित है। इसलिए जब आनन्दवर्धन "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति" कहते हैं तो वे कविता की प्रभावी सामर्थ्य एवं सप्राणता पर बल देते हैं। कविता की आत्मा स्वरूप यह अर्थ काव्यतत्व को समझ सकने में समर्थ व्यक्तियों को तुरन्त अवभासित हो जाता।[2]

ध्वनिसिद्धान्त अपने समय का विवादास्पद सिद्धान्त रहा है। आनन्दवर्धन ने अपने पूर्व सभी सिद्धान्तों को काव्य के अर्थ से जोड़कर ध्वनिसिद्धान्त में समाहित कर दिया था। आनन्दवर्धन की क्रांतिकारी स्थापना थी वस्तु और अलंकार रूप अर्थों की भी प्रतीयमानता। सायास "शब्दयोग की साधना" पर बल देकर आनन्दवर्धन कविता की रचना प्रक्रिया में बुद्धितत्व का महत्त्व स्थापित करते हैं और वस्तु की प्रतीयमानता सिद्ध करते हुए कविता के भावन में बुद्धि की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ रूप वस्तु तक पहुंचने का क्रम अलौकिक आनन्द-अनुभूति का मार्ग नहीं वरन् बुद्धि और तर्क का मार्ग है। वस्तुतः मुक्तक कविता में अर्थ प्रतीति की यही तर्कसंगत व्याख्या है।

कतिपय ऐसी भी रचनाएँ होती हैं। जिनमें वाच्यार्थ प्रतीति के साथ ही कोई भाव तत्काल ही भासित हो उठता है, पर यह स्थिति कविता के लिए अनिवार्य नहीं है। इसलिए आनन्दवर्धन ने रस को भी व्यंग्य माना है, मात्र रस को ही नहीं। अत: यह आरोप लगाकर कि भारतीय काव्य शास्त्रपरम्परा रसवादी है और नयी कविता का रस से कोई संबंध नहीं इसलिए पारम्परिक काव्यशास्त्र को अग्राह्य कहना, अपने अज्ञान को प्रकट करना है—आनन्दवर्धन तो रचना प्रक्रिया, और काव्य शिल्प की दृष्टि से कथ्य की व्यंग्यता पर बल देते हैं। उनके वस्तु व्यंग्य में तो जगत के सभी तथ्य-कथ्य आ जाते हैं, लघु से लघु और महान् भी।

आनन्दवर्धन ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य वहाँ माना है जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता न हो। इस स्थिति का रचना प्रक्रिया की दृष्टि से विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि यह अपूर्ण अथवा त्रुटिपूर्ण रचना स्थिति है। इससे कवि की अक्षमता प्रकट होती है। यह स्थिति अनेक प्रकार से हो सकती है। व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्व० प्र० उ० पृ० ६३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते " " " ५३

का ही उपकारक बन जाए, अथवा व्यंग्यार्थ इतना गूढ़ हो कि सहृदयों के लिए भी अगम्य हो अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ जितना ही स्पष्ट हो तो उसका वैशिष्ट्य ही समाप्त हो जाएगा। व्यंग्य का संस्पर्श होने से इस प्रकार की रचना भी कविता तो हैं ही। गुणीभूत व्यंग्य रचना, जैसा कि हम कह चुके हैं कवि की अक्षमता की द्योतक है। क्योंकि कोई कवि यह नहीं चाहेगा कि उसकी मूल अनुभूति की अपेक्षा वाच्यरूप से उपस्थित अर्थ प्रधानतया प्रतीत हो। यह तभी होगा जब कवि अपनी फैण्टैसी को उपयुक्त शब्द देने में असमर्थ हुआ हो, या फिर कल्पना शक्ति में सामर्थ्य न होने से फैण्टैसी ही पूर्ण न बनी हो।

किन्तु कभी-कभी एक भाव दूसरे का अंग बन जाता है–ऐसी स्थिति सर्वदा दोष-पूर्ण नहीं होती। शिल्प के रूप में भी इस प्रकार के प्रयोग किए जाते हैं। वहाँ वस्तुतः एक भाव प्रधान होता है—उस भावजन्य अनुभूति से उत्पन्न फेण्टेसी के रूप में द्वितीय भाव उभरता है, किन्तु वह उस मूल भाव का ही पोषण करता है। आचार्य मम्मट ने इस स्थिति का एक अच्छा उदाहरण दिया है। भाव है—

"चतुर्दिक ऊँचे-ऊँचे पर्वत और विस्तीर्ण सागर दृष्टिगोचर होते हैं, है पृथ्वी, इन्हें धारण करती हुई भी तुम विचलित नहीं होती, तुमको मेरा प्रणाम है। इस प्रकार जब मैं पृथ्वी की आश्चर्याभिभूत होकर वन्दना कर रहा था कि हे राजा! इस पृथ्वी को भी अविचलित रूप से धारणकरने वाली तुम्हारी भुजा मुझे स्मरण हो आई और मेरी वाणी मुद्रित हो गई।"[1]

निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि राजा के प्रति श्रद्धा भाव जन्य अनुभूति को कवि ने फेण्टेसी का रूप देकर व्यक्त किया है। अतः यह कोई त्रुटि नहीं है। यह शिल्प का एक प्रकार है। परन्तु, जहाँ कवि कुछ कहना चाहे और उसमें असमर्थ हो, ? भावक अर्थ निर्णय ही न कर पाए, यह स्थिति काव्य दृष्टि की असफलता की सूचक है। यदि वाच्यार्थ ही प्रमुख लगे तो इसका तात्पर्य यह होगा कि फेण्टेसी को उपयुक्त शब्द ही न मिले। इसीलिए आनन्दवर्धन ने प्रयत्न पूर्वक शब्द प्रयोग का निर्देश किया है।

जिसमें व्यंग्य का स्पर्श भी न हो उसे ध्वन्यालोककार ने चित्र काव्य कहा है। स्वनिमों (Phonemes) के वैचित्र्य पूर्ण प्रयोग से रचा हुआ काव्य। क्योंकि इसमें काव्य का आत्मतत्व स्वरूप प्रतीयमान अर्थ होता ही नहीं अतः यह प्राणवान प्राणी के समान नहीं, उसके निर्जीव चित्रवत् होता है। व्यंग्य प्राधान्य काव्य प्राणवान,

१. अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधयः
तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुवः
तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ काव्य० ५ उ० पृ० २०१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सजीव कविता है, उससे रहित काव्य कविता नहीं, उसका निर्जीव चित्र है। इसमें व्यंग्यार्थ विशेष प्रकाशन की शक्ति नहीं होती यह वाचक-वाच्य के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित होता है। लिखने के लिए लिखी गई अनुभूति और उसके आवेग से शून्य कविताएँ इसी कोटि की होंगी। पाठक पर इनका प्रभाव भी नहीं पड़ेगा। इस प्रकार की रचना करने वाला कवि काव्य की रचना प्रक्रिया से हा अपरिचित होगा, वह सुनी हुई अथवा बलात् ओढ़ी हुई पराई अनुभूति के अनुकरण में निर्जीव शब्द जाल रचेगा। प्रयोगवादियों और अकविता लिखने वालों ने भाषा के शब्दों के असामर्थ्य की बात अनेक बार दुहराई है। शब्दों में नए अर्थ भरने का दंभ प्रकट किया है। निस्संदेह, शब्दों को नए संदर्भ में प्रयुक्त किया जा सकता है और तब व्यंजना के चमत्कार से शब्द नूतन चमत्कार पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति दे सकता है, परन्तु शब्दों में नया अर्थ नहीं भरा जा सकता। आनंदवर्धन ने इस समस्या पर विचार किया है। कोई कवि नया शब्द गढ़ सकता है, किन्तु, तब उसे बतलाना होगा कि शब्द किस अर्थ का वाचक है। प्रसिद्ध वाच्यार्थ वाला शब्द संदर्भ विशेष में, व्यंजना के आश्रय से नूतन अर्थ ध्वनित करेगा। किन्तु उस संदर्भ से हट जाने पर वह रूढ़ अभिधार्थ का ही वाचक रहेगा।

आनंदवर्धन ने कवि की पूर्ण अभिव्यक्ति की आकांक्षा जनित पीड़ा को समझा था, इसी से उन्होंने कहा है, कवि व्यंजना का मार्ग ग्रहण कर नवत्व को प्राप्त कर सकता है।[1] कवि की प्रतिभा, कल्पनाशक्ति का ही एक रूप है, यही अनुभूति के समतुल्य फैण्टैसी रचती है। फैण्टैसी जितनी स्पष्ट होगी, काव्य उतना ही शक्त होगा। व्यंजना के आश्रय से कवि की कल्पना शक्ति भी उन्मेष प्राप्त करती है।

व्यंजना का आश्रय लेकर कवि की वाणी प्राचीन अर्थों से युक्त होने पर भी नवत्व को प्राप्त करती है।[2] परिमित काव्य-मार्ग भी अनन्त हो जाता है।[3] शुद्ध वाच्य अर्थ भी अवस्थादेशकालादि के वैशिष्ट्य से, स्वभावतः अनंत हो जाता है।[4] पौराणिक कथाओं का नए कवियों ने इस प्रकार प्रयोग किया ही है और आनन्दवर्धन को बिना पढ़े ही किया है। वस्तुतः यह काव्य का शाश्वत मार्ग है—इसमें प्राचीनता नवीनता का प्रश्न नहीं उठता—

ध्वन्यालोककार अपने समय का निश्चित ही प्रगतिशील विचारक रहा होगा। वह परम्परा भुक्तता में विश्वास नहीं करता, कहता है[5]—

१. 'अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः' ध्व० च० उ० पृ० ४५४
२. 'वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वियवत्यपि' ,, ,, ४५५
३. मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ,, ,, ४५९
४. आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ,, ,, ४७४
५. यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।। ४५८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"जिस वस्तु के विषय में सहृदयों को ऐसा प्रतीत हो कि वह वस्तु नई लगती है, यह उचित नई सूझ है—वह वस्तु नई या पुरानी जो भी हो रम्य है।"

इस मान्यता को प्रश्रय देने वाले ध्वनिसिद्धान्त को परम्परावादी कौन कह सकता है ? कविता को प्रेरणा देने वाली अनुभूति का आधार जगत की कोई भी वस्तु बन सकती है। नई कविता में सामान्य के प्रति, लघु के प्रति रुचि जागी है—वह अनुचित नहीं है। नित्य दृष्टि में जाने वाली सामान्य और घृणित से घृणित वस्तु के सम्बन्ध में यदि कवि की कोई अनुभूति है और उसे वे इस रूप में प्रस्तुत कर सकें कि नूतन लगे, तो वह भी रम्य है। किन्तु कविता घृणा उत्पन्न कर वमन कराने का साधन नहीं हो सकती—इस स्थिति को कोई भी सविवेक व्यक्ति कविता न कह सकेगा।

कवि, स्वभावतः विद्रोही होने के कारण, लोकों को तोड़ता है, किसी अंश तक समझौता करता है। नई कविता में दो स्थितियाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ती थीं। ऐसे कवि थे जिन्होंने आवेग झेला था, नियन्त्रण सहा था, अभिव्यक्ति की छटपटाहट जिनमें शिल्प बनकर उभरी थी। और ऐसे भी थे जिन्होंने सब कुछ अस्वीकारने का मार्ग चुना था। इनमें भी दो कोटियाँ थीं। एक वे जिनमें काव्योचित आवेग तो था पर जो किसी भी नियन्त्रण को स्वीकार नहीं करते थे। आवेग की तीव्रता के कारण ये जैसे-तैसे उसे कह जाते थे। आवेग की तीव्रता ही इसमें प्रभावी तत्त्व होता था। दूसरे वे थे जिनका दर्द ओढ़ा हुआ था जो अनुकरण पर जी रहे थे, न इनके पास आवेगजन्य अनुभूति थी और न कविता का शिल्प। चौकाने वाले, कुरुचि-पूर्ण कथनों को ये तथाकथित कवि जस्टीफाई करते रहे। अकविता के हामियों ने कहा, "अकविता नंगी है", "उसे कोई संकोच नहीं है", सैक्स उसके लिए आश्चर्य की, डर की चीज़ नहीं है। वस्तुतः यह नयी पीढ़ी की, कुछ भी न कर—सब अस्वीकार करने का नाटक कर अपना अस्तित्व स्वीकृत कराने की विधि भी है। इस विधि की भी परम्परा रही है।

ध्वनि सिद्धान्त (व्यंजना) ने कविता के सभी सम्भव प्रकारों को समेटा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रवृत्ति जो नई कही जा रही है आज की ही नहीं है, आनन्दवर्धन के समय में भी रही होगी तभी न आचार्य ने इसे भी परिगणित किया है।

अतः जहाँ तक शाश्वत काव्यतत्त्व चिन्तन का प्रश्न है, वह नया-पुराना नहीं होता। आनन्दवर्धन का ध्वनिसिद्धान्त काव्यतत्व चिन्तन की दृष्टि से आज भी महत्वपूर्ण है।

—:०:—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हमारे कतिपय नवीन प्रकाशन

शब्दस्तोममहानिधिः—तारानाथ भट्टाचार्य विरचित	४५—००
समयमातृका—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या सहित	५—००
सूक्तिमञ्जरी—आचार्य बलदेव उपाध्याय	१०—००
त्रिपुरारहस्यम्-ज्ञानखण्डम्। 'ज्ञानप्रभा' हिन्दी व्याख्या सहित	१३—००
हिन्दी ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (चतुःसूत्री) आचार्य विश्वेश्वर	६—००
कामकुञ्जलता—पण्डितराज ढुण्ढिराज शास्त्री सम्पादित	२५—००
चन्द्रकला नाटिका—विश्वनाथकविराजप्रणीत। 'प्रभावती' हिन्दीव्याख्या	८—००
हिन्दी वक्रोक्तिजीवित। व्या०-श्री राधेश्याम मिश्र	१५—००
राजमार्तण्डः—हिन्दी व्याख्या सहित	२—५०
हिन्दी वैशेषिकदर्शन—(प्रशस्तपादभाष्य सहित)	१८—००
व्याकरणमहाभाष्यम्—सप्रदीप हिन्दीव्याख्या १-५ आह्निक	१०—००
व्याकरणशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास—श्री रमाकान्त मिश्र	५—००
शृङ्गाररस का शास्त्रीय विवेचन—डॉ० इन्द्रपाल सिंह	१०—००
साहित्य शास्त्रसार—श्री हंसराज अग्रवाल	४—५०
भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधिसिद्धान्त—श्री राजवंशसहाय	१६—००
महाकवि शूद्रक (शूद्रक और मृच्छकटिक)-डॉ० रमाशङ्कर तिवारी	१२-५०
औचित्य सम्प्रदाय का हिन्दी-काव्य शास्त्र पर प्रभाव— डॉ० चन्द्रहंस पाठक	२५—००
भारतीय इतिहास के स्रोत-सिक्के। ई० जे० रैपसन। अनुवादक-डॉ० रामकुमार राय	१४—००
मूल संस्कृत उद्धरण-प्रो० जे० मूइर। (हिन्दी रूपान्तर) १-५ भाग	१२५-००
लौकिक संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—डॉ० गौरीनाथ शास्त्री। अनुवादक-डॉ० रामकुमार राय	१०—००
विष्णुपुराण का भारत—डॉ० सर्वानन्द पाठक	२०—००
विद्यापरिणयनम्—आनन्दराय मखि विरचित। 'प्रकाश' हिन्दी टीका	५—००
वैदिक योगसूत्र—श्री हरिशंकर जोशी	२२—००
शुक्रनीतिः—विद्योतिनी हिन्दी व्याख्योपेता	१२—५०
स्वतन्त्र कलाशास्त्र—(प्र० भाग भारतीय) डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय	३५-००
हिन्दी सहृदयानन्द—कृष्णानन्द प्रणीत। 'प्रकाश' हिन्दी टीका सहित	६—००
धर्मसिन्धुः—'धर्मदीपिका' हिन्दी टीका 'सुधा' टिप्पणी सहित	२५—००
याज्ञवल्क्यस्मृतिः—'मिताक्षरा' तथा 'प्रकाश' संस्कृत हिन्दी टीका	२०—००

प्राप्तिस्थानम्—**चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection